

वैदिक अर्थ-शास्त्र परिचय



दयानन्द संस्थान
नई दिल्ली-५

विषय-सूची

१—अपनी ओर से ३

२—भूमिका ५

३—विषय प्रवेश १७

४—धन की आवश्यकता २३

५—राष्ट्रीयकरण या विकेन्द्रीयकरण २७

६—समाजवाद या यज्ञ मार्ग ३३

७—राष्ट्रीयकरण और वेद ४१

८—वैदिक अर्थ-व्यवस्था का आधार ४६

९—वैदिक दृष्टि से आज की समस्याओं का हल ... ५०

वैदिक धर्म मनुष्य मात्र में किसी भी प्रकार का कोई भेद-भाव नहीं मानता। संसार के सभी प्राणी एक प्रभु के पुत्र हैं। मनुष्य जाति के मध्य जाति, मत वर्ग विशेष की दीवार खड़ी करना मानव मात्र के लिए अकल्याणकारी है। —लेखक

॥ ओ३म् ॥

वैदिक
अर्थशास्त्र परिचय

स्व० गोपालजी पत्रकार की स्मृति में सादर समर्पित, सत्य चरण आर्य गोरखपुर पाणिनीय कन्या महाविद्यालय को।

★

—लेखक :

—भारतेन्द्रनाथ

★

भूमिका लेखक :

सुप्रसिद्ध लेखक व उपन्यासकार

श्रीगुरुदत्त

★

प्रकाशक :

जन - ज्ञान - प्रकाशन

नई दिल्ली-५

जन-ज्ञान-प्रकाशन का १२५वाँ पुष्प

दूरभाष : ५६६६३६

प्रकाशक—
पंडिता राकेशरानी
मंत्री
दयानन्द संस्थान,
१५६७ हरध्यानसिंह मार्ग
नई दिल्ली-५



मूल्य : ८० पैसे

मई १६७४ आषाढ़ २०३१

मुद्रक :
भाटिया प्रेस, गाँधीनगर, दिल्ली-११००३१



अपनी ओर से

कुछ दिनों से समय के प्रभाव से प्रभावित हो वेद और आर्य-समाज के नाम पर एक ऐसी विचारधारा उपस्थित की जा रही थी जिस का दूर का भी सम्बन्ध, हमारी दृष्टि में वैदिक सिद्धान्तों से नहीं था।

वर्ग संघर्ष की पृष्ठभूमि पर मनुष्य जाति का वर्गीकरण और कमेरा-लुटेरा का नारा हमारी विनम्र सम्मत्ति में 'वेद' के उदात्त, मन्तव्यों के अनुकूल नहीं है।

हमारी इच्छा थी कि इस विषय पर कोई विद्वान् आगे आकर वेद भक्त जनता का मार्ग दर्शन करें किन्तु अनेक कारणों से ऐसा कोई ग्रन्थ अभी तक तैयार नहीं किया जा सका।

जन मानस में जिज्ञासा जागृत हो गयी थी और सभी यह जानने को अत्यन्त उत्सुक थे कि 'अर्थ' के सम्बन्ध में 'वेद' और ऋषि दयानन्द क्या कहते हैं ? वर्तमान सन्दर्भ में वेद का अर्थ शास्त्र क्या हो सकता है ?

इन प्रश्नों का विस्तार पूर्वक उत्तर समय और साधनों की अपेक्षा रखता है। किन्तु हमने अपनी अल्प बुद्धि अनुसार १-२ दिन के अल्पकाल में ही यह लघु पुस्तिका परिचय मात्र की दृष्टि से उपस्थित की है। यह कहना अभी उचित न होगा कि हम इसमें अपनी बात उपस्थित करने में कहाँ तक सफल हुए हैं। फिर भी हम यह विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि 'वेद' वाणी की कल्याणी वीणा के स्वरों की झंकृतियों की छाया को हमने सीधे और सरल ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

हम अपने प्रयत्नों में कहाँ तक सफल हुए हैं इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे। इतना आग्रह अवश्य है कि सभी इसे पक्षपात छोड़ कर पढ़ें और अपने सुझाव हमें भेजें। यदि कहीं कोई त्रुटि भी प्रतीत हो तो हमारा मार्ग दर्शन विज्ञ जन करें, हम उनके आभारी होंगे।

धरती के आँगन से अभाव मिटाने का कार्य 'वेद' के अनुयायी करें। हमारी दृष्टि से आधुनिक नारों व रक्तपात की नीतियों से मानव को मुक्ति प्रदान करने का कार्य 'वेद' की राह पर चलकर ही किया जा सकता है।

प्रभु कृपा करें कि हम सब वेदानुयायी सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करते हुए 'वेद' के प्रकाश से अपना और धरती का अन्धकार मिटाने में समर्थ हों मंगल कामनाओं के साथ—

--भारतेन्द्रनाथ

अध्यक्ष
दयानन्द संस्थान
नई दिल्ली-५

वेद और ऋषि वचन

ऋग्वेद--मं० ४-६६-१

जैसे उत्तम प्रकार शिक्षित और अनुरक्त सेना से वीरजन विजय को प्राप्त होते हैं। वैसे ही कृषि खेती कर्म में चतुर जन ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद--४-६७-५

खेती करने वाले जन प्रथम खेती करने की विद्या को ग्रहण करने के पश्चात् यथायोग्य खेती कर धन और धान्य से सदा युक्त हों।

यजु०—१०-१२

जो राजपुरुष राजनीति के साथ वैश्यों की उन्नति करें वे ही लक्ष्मी को प्राप्त होवें।

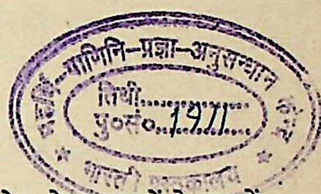
यजु०—१२-७१

किसान लोगों को उचित है कि मोटी मट्टी अन्न आदि की उत्पत्ति से रक्षा करने हारी पृथिवी की अच्छी प्रकार परीक्षा करके हल आदि साधनों से एक सार कर सुन्दर संस्कार किए बीज के उत्तम धान्य उत्पन्न करके भोगें।

—— ऋषिदयानन्द

व्यापार करने वाले शिल्पी को सुवर्ण और चाँदी का जितना लाभ हो उसमें से पचासवाँ भाग, चावल आदि अन्नों में छठा, आठवाँ व बारहवाँ भाग (राजा) लिया करे, और जो धन लेवे भी तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि धन से रहित होकर दुःख न पावें--

महर्षि का यह आदेश स्वतः सिद्ध कर रहा है कि व्यक्ति "धन" कमाने में स्वतन्त्र है। सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण और स्वामित्व राज्य का मानना वेद और ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों के सर्वथा विरुद्ध है।



भूमिका

वेदों में समाजवाद नहीं है। फिर भी कुछ लोग वेदानुयाइयों के मन में समाजवाद की महिमा बैठा रहे हैं—उस समाजवाद की जो आजकल प्रचलित हो रहा है। जो कुछ वेदों में वर्णन किया गया है, वह समाजवाद नहीं है। क्योंकि समाजवाद जिन अर्थों में यह समझा जाता है, वह इस प्रकार है।

समाजवाद के अर्थ

अशोक मेहता भारत के एक विख्यात समाजवादी नेता अपनी पुस्तक 'Democratic Socialism' 'लोकतन्त्री समाजवाद' के पृष्ठ ४१-४२ पर इस प्रकार लिखते हैं :—

"Is it possible to have a definition that covers the entire gamut of its meaning ? The Encyclopaedia of the labour movement gives us a satisfactory, i.e. comprehensive definition—

Socialism is a working class doctrine and movement aiming through the class war at the collective control of society, by the capture of the state machine by the workers and establishment of self government in industry (Vol. III P. 154)

Different schools emerge through their varying emphasis on any one of the five clauses that make up the above defiunition.

(Democratic Socialism-Ashok Mehta P. 41, 42)

इसका अर्थ यह बनता है—

'क्या यह सम्भव है कि इस (समाजवाद) के सब स्वरों का एक व्यापक लक्षण किया जा सके ? मजदूर आन्दोलन का विश्व कोष एक ऐसा सन्तोषजनक एवं व्यापक लक्षण देता है। वह इस प्रकार है।

"समाजवाद एक मजदूर वर्ग का सिद्धान्त है। यह अपने उद्देश्यपूर्ति के लिये वर्ग संघर्ष के द्वारा कार्य करता है। उद्देश्य है समाज पर सामूहिक अधिकार। उपाय है मजदूरों द्वारा राज्य पर अधिकार कर लेना और उद्योग में स्वायत्त स्थापित करना। (खण्ड III, पृष्ठ-१५४)

समाजवाद के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त इसी (लक्षण) के पाँच अंगों में एक अथवा दूसरे पर बल देने से उत्पन्न हुए हैं।

हमारा मत है कि वेदों में यह समाजवाद नहीं है। यह भारत के कुछ पन्थों के ठेकेदार जनता को मूर्ख बना कर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं।

समाजवाद शब्द के अर्थों की व्याख्या :

समाजवाद के पूर्वोक्त लक्षण में पहली बात है कि यह एक आन्दोलन (movement) है। वह आन्दोलन यह है कि संसार में एक श्रेणी है जिसे श्रमिक (वर्ग) कहते हैं। प्रत्येक समाज में एक वर्ग चिन्तक (विचारक) होता है। समाजवाद चिन्तक वर्ग को अपने में पनपने नहीं देता। जब कोई विचारक उन विख्यात सिद्धान्तों को न मान कर उस पर टीका-टिप्पणी करता है, तो वह अमान्य होगा। वह श्रमिक श्रेणी में नहीं आ सकता। अभिप्राय यह कि विचारक श्रमिक नहीं हो सकता।

श्रमिक का एक लक्षण यह भी है—

The class of wage labourers, who having no means of production of their own, are reduced to selling their labour power in order to live are called proletariate (laboures).

अर्थात्—वेतन पर मजदूरी करने वाले, जिनके पास मजदूरी के अतिरिक्त अन्य जीविकोपार्जन का साधन नहीं और जो जीवन चलाने के लिये अपना श्रम बेचने पर बाध्य होते हैं 'प्रोलिटेरिएट' (श्रमिक) कहलाते हैं।

इन लोगों के आन्दोलन को समाजवाद कहते हैं।

समाजवादी समाज में केवल दो वर्ग मानते हैं। एक श्रमिक वर्ग। इनके विषय में हम लिख चुके हैं। वे एक दूसरा वर्ग मानते हैं। इस वर्ग को वे 'बुर्जुआ' (bourgeosic) (पूँजीपति) कहते हैं। इनका लक्षण वे इस प्रकार करते हैं।

By bourgeosic is meant the class of modern capitalist owners of the means of social production and employes of wage labour.

(१) बुर्जुआ का अर्थ उस वर्ग के मनुष्यों से है जो आजकल पूँजीपति कहे जाते हैं और जो उद्योग-धन्धों के मालिक हैं तथा वेतन पर दूसरों को नौकर रखते हैं।

इसमें यह नहीं लिखा कि कितनी पूँजी का मालिक अथवा कितने वेतन-धारियों को नौकर रखने वाला। अभिप्राय यह है कि जो अपने मकान का एक कमरा भी किराये पर देता है अथवा जो चौका-बासन के लिये कुछ समय के लिये भी किसी को नौकर रखता है, वह पूँजीपति है।

इस प्रकार समाजवादी पूर्ण मानव समाज को दो वर्गों में विभक्त करते हैं। उनकी दृष्टि में तीसरा वर्ग नहीं। इनको वे (classes) मानव श्रेणियाँ कहते हैं।

(२) इन दो श्रेणियों में झगड़ा कराने के सिद्धान्त को मानने वाला समाजवादी है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि किसी ने मकान जिसके एक कमरे के भाड़े पर दिया है, वह सरमायेदार (capitalist) है, परन्तु वह मकान उसने कैसे बनवाया है—इसका विचार नहीं।

एक व्यक्ति अपने मेहनत-मजदूरी में मितव्ययता से रहता हुआ दस-बीस वर्ष में वेतन में से बचत कर मकान बनवाता है। परन्तु ज्योंही वह उसके एक भी कमरे को भाड़े पर देता है तो वह पूँजीपति हो जाता है और उसका किरायेदार से झगड़ा होना चाहिये। इसी प्रकार यदि कोई अपने वेतन में से पैसा-पैसा जमा कर कुछ धन एकत्रित कर लेता है और उसमें से अपनी वृद्धावस्था में एक सेवक वेतन पर रखता है तो वह बुर्जुआ (पूँजीपति) कहा जा सकता है।

इस प्रकार इन दो वर्गों में संघर्ष (झगड़ा) कराने वाला सिद्धान्त समाजवाद है। एक वेद का विद्वान दिन भर वेदाध्ययन और उस पर चिन्तन करता है। यदि वह अपने भोजन के लिए किसी पाचक को नौकर रखता है तो वह श्रमिक नहीं कहा जा सकता। वह पूँजीपति हो जायेगा।

यदि कोई चिन्तक अपने चिन्तन से अपने को इन दो वर्गों से पृथक् समझता है तो वह श्रमिक नहीं रह सकता और समाजवाद में उसका कोई स्थान नहीं।

मालिक मकान और किरायेदार में, भोजन खाने वाले और पाचक में, दुकानदार और दुकान पर बिक्री करने वाले (salesman) में, स्कूल मास्टर और चपरासी में, अभिप्राय यह है कि घर-घर में और दुकान-दुकान पर कारखानों, दफ्तरों में अफसर अधीनस्थों में, मुसाफिर और कुलियों में, टैक्सी, रिक्शा में सवार और चलाने वालों में—एतदर्थ जीवन के प्रत्येक व्यवहार में जहाँ दो का सम्पर्क होता है, झगड़ा कराना समाजवाद है। इसे वह वर्ग संघर्ष का नाम देते हैं।

(३) जो श्रमिक (प्रोलिटेरिएट) है, उनका राज्य होना चाहिये। देश की सरकार श्रमिकों के हाथ में होनी चाहिये, विद्वानों के नहीं। हमने ऊपर बताया है कि चिन्तक एवं विद्वान श्रमिक हो ही नहीं सकते।

(४) ऐसी सरकार की सहायता से समाजवाद चलाया जायेगा और राज्य चलाया जायेगा ?

(५) श्रमिकों की सरकार का समाज पर (पूर्ण) अधिकार और उद्योग-धन्धों में श्रमिकों को स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

हमारा यही कहना है कि जितनी प्रकार के भी समाजवाद आज की दुनियाँ में प्रचलित हैं, वे इन पाँचों अंग वाले लक्षण में समा जाते हैं।

वैदिक समाजवादी अल्प शिक्षित लोग ही हैं। हमारा कहना है कि वेदों में उक्त लक्षणों वाला वाद कहीं भी नहीं। उन लोगों को जो समझते हैं कि वेद में समाजवाद है, चाहिये कि वे बतायें कि इन पाँच बातों में कौनसी बात वैदिक समाजवाद में है ? यदि नहीं है तो समाजवाद शब्द का प्रयोग उन्होंने किसलिये किया है ?

वैदिक समाज शास्त्र :

समाज की व्यवस्था वेदों में वर्णन की गई है। यह प्रचलित समाजवाद की नहीं है। वैदिक समाज की व्यवस्था है वर्णाश्रम धर्म।

(१) वर्ण चार हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वेदादि शास्त्रों में इनको जन्म से नहीं माना। गुण, कर्म और स्वभाव से कहा गया है। उदाहरण के रूप में भगवद्गीता में कहा है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।

(भ० गी० १८।४१)

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म और स्वभाव से उत्पन्न गुणों को करके (वर्ण) विभक्त किये गये हैं। वेद में भी कहा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्‌बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्‌भ्याँ शूद्रो अजायत ।।

(यजु० ३१-११)

जैसे शरीर के अंग, सिर, बाहें, पेट और पाँव भिन्न-भिन्न कार्य करने के लिये होते हैं वैसे ही मनुष्य समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य समाज में वैदिक व्यवस्था है वर्ण व्यवस्था। मनुष्य जीवन में व्यवस्था आश्रमों के विचार से है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वान-प्रस्थ और संन्यास आश्रम जीवन के चार विभाग हैं। अभिप्राय यह कि वैदिक समाज व्यवस्था तो वह नहीं जो प्रचलित समाज में है।

सबसे मुख्य अन्तर समाजवाद और वैदिक समाज व्यवस्था में यह है कि मनुष्य के कुछ व्यक्तिगत कर्त्तव्य हैं। उन कर्त्तव्यों में मनुष्य स्वतन्त्र है। उनमें वह किसी के भी अधीन नहीं। राज्य तो बहुत छोटी सत्ता है। वैदिक शास्त्रानुसार मनुष्य उन व्यक्तिगत कर्मों में परमात्मा के भी अधीन नहीं है। परमात्मा वेदों में मनुष्य को कुछ कर्म करने की प्रेरणा देता है, आदेश नहीं।

हाँ, कर्मों का फल कर्मानुसार मिलता है।

मनुष्य के सब कर्म दो भागों में बाँटे जा सकते हैं एक वे कर्म हैं जो दूसरों से व्यवहार के हैं और वे कर्म हैं जो करने वाले के अपने साथ ही सम्बन्ध रखते हैं। इनको सामाजिक कर्म और व्यक्तिगत कर्म कहते हैं।

उदाहरण के रूप में चोरी करना, झूठ बोलना इत्यादि कर्म ऐसे हैं जो सीधे दूसरों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इसके विपरीत मुसीबत के समय धैर्य रखना, प्रलो-भन में अपने मन को काबू में रखना। इसे संस्कृत में दम, धर्म स्मरण किया जाता है। ये मनुष्य के अपने साथ ही सम्बन्ध रखते हैं।

यहां इतना समझ लेना चाहिये कि दम और इन्द्रिय-निग्रह में अन्तर है। उदाहरण के रूप में किसी को एक सोने की डली पड़ी दिखाई देती है। कोई व्यक्ति मन से उस सोने की डली को उठाये बिना किसी के देख जेब में डाल लेने की इच्छा करता है। यह दम धर्म का भंग करना है। इसका फल मनुष्य के अपने मन पर ही होता है। चोरी तब होती है जब डली उठा कर अपनी जेब में डाल ली जाती है। चोरी सामाजिक कर्म है और दम व्यक्तिगत कर्म है।

मुख्य बात व्यक्तितगत कर्मों की है। समाजिक कर्म राज्य दण्ड का विषय है।

व्यक्तिगत और समष्टिगत कर्म

व्यक्तिगत कर्म वे कहलाते हैं जिनको करने से किसी दूसरे पर सीधा प्रभाव न हो। हमने शब्द 'सीधा' कहा है। इसमें कारण यह है कि आज के काल में कुछ

ऐसे कार्यों को भी सामाजिक कर्म समझा जाता है जो सामाजिक नहीं हैं।

कुछ व्यक्तियों ने व्यक्तिगत कार्यों को अपने काल्पनिक कारणों से सामाजिक कार्य घोषित कर रखा है। इस कारण हमने यह कहा है कि व्यक्तिगत कर्म उनको कहते हैं जिनका सीधा प्रभाव कर्म करने वाले के अतिरिक्त किसी पर न पड़े।

कर्म धृति, दम, धीः और विद्या व्यक्तिगत हैं। ये चार वैदिक जीवन मीमांसा के दस धर्मों में से हैं। ये सर्वथा व्यक्तिगत हैं। इन पर कार्य करने से किसी दूसरे पर प्रभाव नहीं पड़ता।

उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति विद्या धर्म का पालन करता हुआ कुरान पढ़ता है और उसे उसमें कुछ अयुक्तिसंगत बात समझ आती है। वह उसे एक पुस्तक में छपवाता है। प्रश्न उपस्थित होगा कि क्या यह व्यक्तिगत काम है अथवा समष्टिगत ?

ज्ञान वर्धन व्यक्तिगत कार्य है। अपना भी और अपने साथियों का भी। इस पर यदि कोई मुसलमान कहे कि कुरान पर आलोचना सुनकर उसे दुःख हुआ है। इस कारण इस पुस्तक को जब्त कर लेना चाहिये और लेखक को कारावास का दण्ड देना चाहिये। इसमें कौन समष्टिगत कर्म कर रहा है? पुस्तक लिखने वाला अथवा पुस्तक लिखने वाले को दण्ड की मांग करने वाला ? यह प्रश्न है। लिखी पुस्तक पढ़ने के लिये किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता है। जिसे पढ़ने से दुःख होता है, वह उसे न पढ़े। वह अपने साथियों को कहे कि इस पुस्तक को न पढ़ें। परन्तु लिखने वाले ने तो ज्ञानवर्धन के लिये अध्ययन किया और उसी निमित्त उसका प्रकाशन कराया है। यह तो सर्वथा धर्मानुकूल है।

कोई पढ़कर उसे दुःख अनुभव करता है अथवा सुख, यह लेखक का काम नहीं। यह पढ़ने वाले का काम है कि वह पुस्तक न पढ़े। आलोचना करने के लिये स्वतन्त्र है। तब भी यदि वह मुसलमान, लेखक को कारावास का दण्ड दिये जाने का आग्रह करता है तो वास्तव में वह सामाजिक धर्म का भंग करता है और दण्डनीय है।

इस प्रकार से धर्म को विकृत करने को तानाशाही का नाम दिया जाता है। आज कोई कुरान पर आलोचना से दुःख अनुभव करता है तो कल कोई राम की महिमा गाने पर भी दुःख अनुभव करने लगेगा। किसी के अनुभव करने से कोई कार्य धर्म अथवा अधर्म नहीं हो जाता।

अतएव वैदिक जीवन मीमांसा का समाजवाद से जहाँ वर्णाश्रम धर्मों में भेद है वहाँ व्यक्तिगत और समष्टिगत कर्मों के विषय में भी भेद है। यही कारण है कि आज रूसी समाज के कर्णधार समाजवाद पर आलोचना करने वाले को अपराधी मानते हैं।

वैदिक समाज शास्त्र में व्यक्तिगत और समष्टिगत कर्मों में एक स्पष्ट रेखा है। व्यक्तिगत कर्मों में मनुष्य स्वतन्त्र है। समष्टिगत कर्मों में मनुष्य सामाजिक नियमों के अधीन है।

अनुभव करना "दम" धर्म की भांति व्यक्तिगत कर्म है। सामाजिक कर्मों पर राज्य-नियम काम करते हैं और व्यक्तिगत कर्मों पर राज्य नियमों का अधिकार नहीं है।

कभी-कभी व्यक्तिगत कर्म सामाजिक कर्म हो जाते हैं। वही सोने की डली वाला उदाहरण लिया जा सकता है। सामने रखी सोने की डली को पा जाने की इच्छा "दम" धर्म का उल्लंघन मात्र है। यह व्यक्तिगत धर्म है। यह राज्य नियम का विषय नहीं। परन्तु जब इस इच्छा को कर्म में परिणित किया जाता है अर्थात् मनुष्य सोने की डली को प्राप्त करने की इच्छा के लिये बल अथवा छल का प्रयोग करने लगता है तब यह सामाजिक धर्म का उल्लंघन करना हो जाता है। तब यह राज्य नियम का विषय बन जाता है।

समाजवाद में व्यक्तिगत धर्म और समष्टिगत धर्म दोनों को राज्य नियम के अधीन लाने का यत्न किया जाता है।

इस कारण भी हम समाजवाद को वैदिक धर्म के विपरीत मानते हैं। समाजवाद में मनुष्य के सब क्रिया-कलाप राज्याधीन हो जाते हैं।

अर्थ व्यवस्था

मानव कर्मों को चार वर्गों में बांटा गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। कर्म के एक प्रकार से वर्गीकरण हमने ऊपर बताये हैं। एक तो वर्णाश्रम कर्मों में बांटा है और दूसरे ढंग से कर्म को व्यक्तिगत और सामाजिक कर्मों में विभक्त किया है।

यह भी हमने बताया है कि सामाजिक कर्मों पर ही राज्य नियम चलते हैं। व्यक्तिगत धर्म विद्वान लोगों की प्रेरणा के अनुसार पालन किये जाते हैं।

अब कर्मों का एक अन्य ढंग से वर्गीकरण किया बता रहे हैं। धर्म में तो सब प्रकार के कल्याणकारी कर्म आते हैं। अपने कल्याण के कर्म और दूसरों के कल्याण करने वाले कर्म, सब धर्म हैं। अकल्याण करने वाले अधर्म कहलाते हैं।

कुछ कर्म ऐसे हैं जो अर्थ की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं। इनको अर्थ की श्रेणी में कहा जा सकता है। कुछ कर्म हैं जो भोग तथा कामनाओं की पूर्ति के लिये किये जाते हैं, इनके अतिरिक्त कुछ कर्म हैं जो मोक्ष प्राप्ति के लिये किये जाते हैं।

अर्थ, काम और मोक्ष के लिये भी जो कर्म किये जाते हैं, वे सब धर्म और अधर्म की श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं।

अर्थ को प्राप्त करने में किये जाने वाले धर्म युक्त कर्म ही उपयुक्त हैं। इसी प्रकार कामनाओं के भोग में भी धर्म युक्त कर्म ही वांच्छनीय हैं। कहा जाता है कि मोक्ष प्राप्ति तो धर्म युक्त कर्मों से ही सम्भव है।

यहाँ हम अर्थ के विषय में लिख रहे हैं। "अर्थ" वह है जिससे इच्छित पदार्थ प्राप्त किये जा सकें।

मनुष्य की सबसे आवश्यक इच्छित वस्तु उसका जीवन है। जीवन को चलाने के लिये वायु, जल और अन्न आवश्यक हैं। इन तीनों से उतर कर मनुष्य की आवश्यकता है मकान और वस्त्र। इन सब वस्तुओं को "अर्थ" का नाम दिया जाता है। वायु, जल, अन्न, मकान और वस्त्र। ये अर्थ हैं। इनके मूल पदार्थ परमात्मा ने मनुष्य को दिये हैं।

वायु और जल तो बहुत बड़ी मात्रा में पृथिवी पर उपलब्ध हैं। इस पर भी इनको हम सब स्थान पर समान रूप में प्राप्त नहीं कर सकते। अन्न कई स्थानों पर तो फल, मूलकन्द के रूप में उपस्थित होते हैं, परन्तु अन्य स्थानों पर और पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है।

इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रकृत्ति ने सब पदार्थ पृथिवी पर दिये हैं, परन्तु इनको प्राप्त करने के लिये अथवा उस रूप और मात्रा में उपलब्ध करने के लिये जिससे जीवन चल सके, यत्न करना पड़ता है।

इसी कारण अर्थ से अभिप्राय वायु, जल, अन्न मकान और वस्त्र तो है ही; साथ ही इनको उपयोगी रूप में प्राप्त करने के लिये यत्न भी अर्थ ही कहलाता है।

अतः अर्थ मानव परिश्रम है। इस कारण कि परिश्रम से ही जीवनोपयोगी पदार्थ प्राप्त किये जाते हैं अथवा उनको प्राकृतिक रूप से उपयोगी रूप में बनाया जा सकता है। जीवन चलाने के लिये आवश्यक पदार्थ "अर्थ" हैं। उनको उपयोगी रूप में प्राप्त करने में किया गया परिश्रम भी "अर्थ" कहा जा सकता है। रुपया-पैसा इत्यादि के सिक्के अथवा नोट मानव परिश्रम को विनिमय करने के साधन मात्र हैं।

उदाहरण के रूप में हम राजस्थान के रेगिस्तान में जीवन चलाना चाहते हैं। जल वहाँ उपलब्ध नहीं। इसके लिये बहुत गहरे कूप खोदे जाते हैं और उनमें से जल कठोर प्रयत्न से प्राप्त किया जाता है। कुएं से निकाल प्रयोग के स्थान पर जल लाने में परिश्रम करना पड़ता है। यह परिश्रम ही जल का मूल्य हो जाता है। कभी इस मूल्य को भी अर्थ कह देते हैं। वास्तव में जल का तो कुछ भी मूल्य नहीं। यह तो प्रकृति कहें अथवा परमात्मा कहें, ने बिना दाम लिये दिया है, इस पर भी जल का मूल्य उस परिश्रम के अनुसार हो जाता है जो उसे कुएं से निकाल प्रयोग के स्थान पर ले जाने में होता है।

इसी प्रकार अन्य आवश्यकताओं के उपलब्ध करने अथवा उनको उपयोगी स्थान पर उपयोगी रूप में देने के लिये व्यय किये परिश्रम के अनुसार ही उसका मूल्य होता है। यही बात वस्त्र, मकान, अन्न इत्यादि की भी है।

अभी तक हमने यह बताया है कि परिश्रम ही अर्थ है। मूल पदार्थ प्रकृति अथवा परमात्मा के दिये हुए हैं। उन मूल पदार्थों को उपयोगी रूप देने में परिश्रम करना पड़ता है। इस कारण परिश्रम ही "अर्थ" है।

यह परिश्रम अर्थात् कार्य करने की सामर्थ्य कहाँ से आती है? यह अन्न से प्राप्त होती है। अन्न भी परमात्मा की देन है।

अन्न में तीन पदार्थ जीवन उपयोगी हैं। कार्बोहाइड्रेट्स (Carbobydrates) ये शरीर में सामर्थ्य देते हैं। दूसरी प्रकार के पदार्थ को प्रोटीन (protein) कहते हैं। ये शरीर निर्माण में भाग लेते हैं। तीसरी प्रकार के पदार्थ साल्ट्स (salts) हैं। ये भी शरीर निर्माण में भाग लेते हैं।

अन्न में ये पदार्थ प्रकृति से ही उपलब्ध होते हैं। इनके मूल पदार्थ कार्बन, हाईड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, कैलशियम इत्यादि सब प्रकृति अमूल्य ही देती है। इनको प्राप्त करने तथा इनके उपयोगी रूप देने में जो परिश्रम लगाना पड़ता है वही इनका मूल्य है।

एक शब्द में परिश्रम ही अर्थ है। पदार्थ का मूल्य इनको मानवोपयोगी रूप देने में व्यय किया परिश्रम इसका मूल्य है। मूल्य का दृश्यमान रूप धन है।

परिश्रम का रूप

जल ही का उदाहरण ले सकते हैं। कुएं में जल है। कुएं के बाहर प्यासा मनुष्य खड़ा है। प्यास भी है और जल भी है, परन्तु जब तक लोटा, डोरी न हो, जल उपलब्ध नहीं हो सकता।

राजस्थान में कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ वर्षा का जल ही उपलब्ध है। कुएं खोदने पर भी जल नहीं मिलता। वहाँ मनुष्य जल को तालावों में, कुण्डों में एकत्रित कर रखता है। वर्षा ऋतु में एकत्रित किया जल वर्ष भर प्रयोग होता है। जल को संचित रखने के लिये तालाब, कुण्ड इत्यादि बनाने पड़ते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि जल तो है, परन्तु जल के प्रयोग के स्थान पर और आवश्यकता के समय प्राप्त करने के लिये कुछ साधन चाहियें।

इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक वस्तुओं को प्रयोग के योग्य बनाने के लिये तथा प्रयोग के समय और स्थान पर पहुँचाने के लिये परिश्रम की आवश्यकता होती है। परिश्रम बिना साधनों के कार्य नहीं करता।

खेत में अन्न उत्पन्न होता है। इस पर भी बिना परिश्रम के और बिना साधनों के अन्न प्राप्त नहीं होता। बीज, भूमि, जल, खाद और परिश्रम के साथ खेती-बाड़ी का ज्ञान होना आवश्यक है।

कहने का अभिप्राय यह है कि साधनों के बिना परिश्रम भी फल नहीं देता।

अब एक मकान का उदाहरण लिया जा सकता है। मकान के लिये सीमेंट, ईंट, रेत, लोहा और निर्माण के लिये परिश्रम तथा मकान बनाने की विद्या, ये सब साधन हों तो मकान जो अर्थ का एक रूप है, मिल सकता है।

अतएव किसी भी उपयोगी वस्तु को निर्माण करने के लिये निम्नलिखित चार प्रकार के साधन चाहियें।

(१) कच्चा माल (raw material) (२) परिश्रम (labour) (३) ज्ञान (knowbdge) (४) इन सबको एकत्रित करने के लिये नियुक्तक (administration) करने की योग्यता होनी चाहिये। इसे प्रबन्ध (management) कहते हैं।

इनमें प्रबन्ध और परिश्रम को एक में ही गिना जा सकता है। परन्तु कच्चा माल और ज्ञान को एक स्थान पर एकत्रित करने के लिये धन जिसे पूँजी कहते हैं, उसकी आवश्यकता रहती है।

ज्ञान से हमारा अभिप्राय ज्ञानवानों के बनाये उपकरणों से है। इसी में मशीनें इत्यादि ली जाती हैं। कच्चा माल और उपकरण तथा मशीनों को कार्य के स्थान पर उपलब्ध करने के लिये धन (पूँजी) की आवश्यकता रहती है।

विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि उपयोगी कार्य के लिये मुख्य रूप में दो साधन अत्यावश्यक है — पूँजी और परिश्रम।

अतः अर्थ उपयोगी पदार्थ का नाम है। उपयोगी पदार्थ बने बनाये प्रकृति में

प्रयोग के स्थान पर नहीं होते । साधन और परिश्रम को एक स्थान पर प्राप्त करने की आवश्यकता रहती है । इस पर व्यय किये धन को पूँजी कहते हैं ।

पूँजी और परिश्रम का सम्बन्ध

पूँजी और परिश्रम अन्योन्य आश्रित हैं । दोनों का परस्पर सहयोग हो तो कार्य चल सकता है ।

इसमें एक साधारण सा उदाहरण लिया जा सकता है ।

दर्जी हाथ से कमीज सीता है तब भी इसे सुई और धागे की आवश्यकता रहती है । कपड़ा भी चाहिये । तभी कमीज तैयार हो सकती है । कपड़ा, सुई और धागे इत्यादि के लिये पूंजी आवश्यक है । अतः उत्पादन में पूंजी अत्यावश्यक अंग है । बिना इसके परिश्रम से कुछ नहीं कर सकता ।

जबसे बढ़िया प्रकार की मशीनों का आविष्कार हुआ है तबसे पूंजी की महिमा और भी अधिक बढ़ गयी है ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि पूंजी का स्रोत कहाँ है ? पूंजी वास्तव में किसी एक व्यक्ति अथवा बहुत से व्यक्तियों के परिश्रम का फल होता है ।

मनुष्य शरीर भी एक मशीन है । यह कार्य करती है—यदि इसको अन्न-अनाज और अन्य आवश्यक पदार्थ उपलब्ध कराये जायें । अभिप्राय यह कि शरीर काम करता है और इसको काम करने के योग्य बनाने के लिये इस पर व्यय करना पड़ता है । इस पर भी देखा गया है कि शरीर को चालू रखने के लिये जितना व्यय किया जाता है, उससे अधिक उत्पादन यह करता है । अर्थात् शरीर पर व्यय से शरीर की आय अधिक होती है । यह प्रत्येक व्यक्ति की बचत कहलाती है । यह बचत ज्ञान युक्त कर्म करने से बढ़ जाती है । यह बचत ही पूंजी बन जाती है ।

उदाहरण से बात समझ में आ जायेगी । हाथ से सीने पर दर्जी दिन भर में दो कमीज सी सकता है । दो की सिलाई आठ रुपये बन जायेगी । छः रुपये उसके परिवार में व्यय हो जाते हैं । वह दो रुपये नित्य बचाता है । छः महीने में वह साढ़े तीन सौ रुपये की कपड़े सीने की मशीन खरीद लेता है । यह परिश्रम को पूंजी में परिवर्तन करने का उदाहरण है ।

कुछ लोग अपने बचत के धन को पूंजी में परिवर्तन करने की योग्यता नहीं रखते । इस पर भी वह अपनी पूंजी का लाभ उसे बैंक में जमा कराकर प्राप्त करते हैं ।

एक अर्थ का सदुपयोग जानने वाला बैंक से रुपया लेकर किसी उद्योग में पूंजी के रूप में लगाकर उससे लाभ उठा लेता है ।

इस सबसे हमारा अभिप्राय यह है कि परिश्रम ही पूंजी है । दोनों का रूप भिन्न-भिन्न हैं । परिश्रम कच्चे माल को निर्मित्त माल में परिवर्तित करता है । इस प्रकार कच्चे माल का मूल्य बढ़ाकर परिश्रम का फल पाता है । परन्तु जब परिश्रम को संचित कर उससे ऐसे उपकरण प्राप्त किये जाते हैं जिनसे परिश्रम का फल बढ़ जाये तो वह संचित परिश्रम पूंजी कहलाती है।

बड़े-बड़े उद्योगों में कई-कई लोगों का संचित परिश्रम, पूंजी के रूप में प्रयोग होता है। यह है अर्थ तन्त्र।

समाजवाद और पूंजी

यह हमने देखा है कि पूंजी जब परिश्रम से संयुक्त हो जाती है तब फल अधिक होता है। समाजवादियों का कहना है कि पूंजी से लाभ प्राप्त किया जाता है। उनका कहना है कि परिश्रम को लाभ का अधिक भाग मिलना चाहिये। पूंजीपति धोखा-धड़ी कर श्रमिकों को छल लेता है और आप अधिक प्राप्त कर लेता है।

समाजवादी यह भी कहता है कि एक बार जो पूंजीपति बन जाये वह अधिक और अधिक धनवान होता जाता है और श्रमिक तो निर्धन का निर्धन ही रहता है।

वह यह भी कहता है कि पूंजीपति किसी उद्योग अथवा व्यवसाय में पूंजी के बल पर एकाधिकार बना लेता है। इस कारण पूंजीपति नहीं रहने चाहियें।

यह लांच्छन सब उद्योगपतियों पर न लग सके तो भी एक बहुत बड़ी सीमा तक सत्य हैं। परन्तु यह दोष तो मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार के कारण उत्पन्न होते हैं। इसका पूंजी के साथ सम्बन्ध वैसे ही है जैसे कि उद्योग में उत्पादन पूंजी के आश्रय बढ़ जाता है वैसे ही धन प्राप्त होने के साथ धनी के मन में पाँच विकार भी बढ़ जाते हैं।

उद्योग की आय तो बिना पूँजी के भी होती है, यद्यपि बहुत कम। यह आय परिश्रम में निहित है। इसी प्रकार मनुष्य में काम, लोभ, मोह इत्यादि दुर्गुण तो पूंजी के अतिरिक्त भी हैं। ये मन के विकार हैं। धन से ये विकार बढ़ जाते हैं।

इनके दूर करने का उपाय पूंजी छीन लेना नहीं। यह मनुष्य के मन में विवेक उत्पन्न करने से दूर हो सकते हैं।

पूंजी विहीन विवेकी कल्याण करेगा बहुत कम। पूंजी रखने वाला उद्योगपति यदि विवेकी होगा तो वह कल्याण कार्य भी अधिक करेगा। इस कारण पूंजी में दोष नहीं। यह दोष है देशवासियों में अविवेक का होना।

समाजवादी कहते हैं कि पूँजी सरकार के हाथ में हो जाये तो पूँजी के अवगुण नहीं रहेंगे। हमारा कहना है कि यदि देश में अविवेक व्यापक होगा तो पूँजी सरकार के हाथ में जाने से भी काम, क्रोध, लोभ और मोह उन कर्मचारियों में हो जायेंगे जो सरकार की ओर से पूँजी को चालना देंगे।

भारत में ही नहीं, वरंच उन सब देशों में पूँजी का दुरुपयोग हो रहा है जहाँ लोगों में विवेक का अभाव है।

समाजवाद न्यूनाधिक भूमण्डल के सब देशों में स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि सब देशों की अर्थ व्यवस्था बिगड़ रही है। इस बिगड़ी अर्थ व्यवस्था का परिणाम यह हो रहा है।

(१) महंगाई बढ़ रही है। (२) बेकारी बढ़ रही है। (३) चरित्र-हीनता बढ़ रही है, (४) हत्या काण्ड, गर्भ पात और दुराचार वृद्धि पर है। (५) वेतन बढ़ रहे हैं, परन्तु कीमतें उससे भी अधिक बढ़ रही हैं।(६) प्रायः सब देशों में

अन्न-अनाज का अभाव हो रहा है।

ये सब दुर्गुण उतने ही अधिक वहाँ देखे जाते हैं जहाँ जितना समाजवाद अधिक हो गया है।

समाजवाद के दोष :

आज मशीन युग में पूँजी तो उद्योग का अनिवार्य अंग है। अन्तर समाजवादी व्यवस्था और व्यक्तिवादी व्यवस्था में यह है कि समाजवाद में सरकार जो पूँजी निर्माण करने वाली नहीं होती, वह पूँजीपति बन जाती है। पूँजी तो श्रमिकों की होती है, परन्तु प्रबन्ध अपने राजनीतिक प्रभाव के कारण सत्ताधीश लोग पूँजी का प्रयोग करने लगते हैं। उद्योग में लाभ तथा हानि से सरकार की स्थिति में अन्तर नहीं पड़ता। हानि उनको होती है जिनके गाढ़े पसीने की कमाई बैंकों में जमा होती है।

भारत का उदाहरण लिया जा सकता है। सरकारी उद्योगों में लाभ नगण्य है और सरकार उसमें जनता का धन अथवा जनता के नाम पर उधार लिया धन लगा रही है। निरन्तर घाटा होने के कारण रुपये की कीमत कम हो रही है।

(१) विचार करिये कि एक श्रमिक का पांच हजार रुपया सन् १९५४ में सेविंग बैंक में जमा था। दो सौ रुपया व्याज तो वह प्रतिवर्ष ले लेता है। बीस वर्ष के उपरान्त सन १९७४ में उसे व्याज दो सौ के स्थान ढाई सौ मिलने लगे हैं, परन्तु जो मकान वह सन् १९५४ में पांच हजार में खरीद सकता था, वह आज अस्सी हजार में भी कठिनाई से मिल सकता है। कहने का अभिप्राय यह कि उसके रुपये का मूल्य छः पैसे रह गया है।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि समाजवाद से सरकार का दिवाला निकल गया है और एकदिवालिये की भाँति उसके लेनदारों को आज रुपये के छः पैसे मिल रहे हैं।

पेट्रोल के राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग होने से पहले जापान, ताईवान और पश्चिमी जर्मनी भूमण्डल के अर्थ दृष्टि से उन्नत देश थे। कारण यह था कि इन देशों में समाजवाद का प्रभाव सबसे कम था।

पेट्रोल पर रोक लग जाने से उन देशों को सबसे अधिक हानि हुई है जहां पेट्रोल नहीं है। इस कठिनाई का सम्बन्ध समाजवाद से नहीं है।

(२) समाजवाद में श्रमिक और मालिक में झगड़ा अनिवार्य है। यह झगड़ा रूस जैसे देश में भी है। यही कारण है कि वहाँ क्रान्ति हुये साठ वर्ष होने जा रहे हैं और अब भी वहां साइबेरिया में लेबर कैम्प्स कैदियों से भर रहे हैं।

(३) समाजवादी व्यवस्था में हानि-लाभ का उत्तरदायित्व किसी पर नहीं होता। घाटा सदा श्रमिकों को रहता है। उनकी सम्पत्ति का मूल्य कम होता जाता है।

(४) समाजवादी देश में जीवन का आदर्श अर्थ (money) हो जाने से चरित्रहीनता अनिवार्य रूप से पनपती है।

(५) समाजवादी देश में बेकारी व्यापक रहती है। इसका कारण यह है कि देश में एक ही (सरकार) पूँजीपति होने से बड़े-बड़े उद्योग और बड़ी-बड़ी मशीनें लगाती जाती है। परिणाम यह होता है कि ऐसे देशों में मानव परिश्रम की आवश्यकता कम हो जाती है। मनुष्य बेकार होते जाते हैं।

(६) मनुष्य अपने सब कामों के लिये सरकार पर निर्भर करने से एक पालतू पशु की भाँति होता जाता है और उसकी बुद्धि और व्यवहार पशुओं का सा होने लगता है।

होना क्या चाहिए ?

मनुष्य अपने कर्मों में स्वतन्त्र है। वह कर्म करे अथवा न करे। कार्य दिल लगा कर करे अथवा आधे दिल से करे और कार्य उत्पादन युक्त करे अथवा मनोरंजन का करे? मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है।

इसकी शारीरिक आवश्यकतायें ही उसको दिल लगा कर आठ घंटे नित्य काम करने पर विवश कर सकती हैं। इस कारण यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने कर्म करे और उससे उत्पन्न होने वाले फल का स्वयं उत्तरदायी हो।

यह तब ही हो सकता है जो स्वतन्त्र व्यवसाय करने की छूट हो और उसके साथ कार्य करने के हानि-लाभ का उत्तरदायित्व कर्म करने वाले पर हो।

जब प्रत्येक व्यक्ति पर उत्तरदायित्व पड़ेगा तो वह बुद्धि का प्रयोग करेगा और अपनी कामनाओं को नियन्त्रण में रखेगा।

जो विषमता मशीन युग से उत्पन्न हो गई है उसका निवारण राज्य अपनी न्याय व्यवस्था और शासनपद्धति को समयानुसार बना कर करे जिससे पूँजी और श्रम में उपज का बंटवारा ठीक प्रकार से हो सके।

आवश्यकता है राज्य व्यवस्था में सुधार करने की; न कि अर्थ व्यवस्था को विकृत करने की।

हमारा यह निश्चित मत है कि मनुष्य का आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र रहने के लिए बना है और इसे स्वतन्त्रता पूर्वक काम करना चाहिये।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'। यह गीता का कथन है।

पंजाबीबाग, —**गुरुदत्त**

दिल्ली।

विषय प्रवेश

आज के युग का सर्वाधिक चर्चित विषय "अर्थ" का है। युग के मनोषियों ने इस पर इतना बल दिया व चिन्तन किया है कि संसार के अधिकांश व्यक्तियों ने 'अर्थ' की समस्या को ही जीवन की प्रमुखतम समस्या मान लिया है। उनकी दृष्टि में रोटी-कपड़ा और मकान की समस्या का समाधान ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना दिया गया है।

युग प्रवाह के वशीभूत वेदानुयायी या धर्म परम्परा के किसी भी व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या संसार के सब से प्राचीन ग्रन्थ 'वेद' के अनुसार भी इस समस्या का कोई समाधान है? क्या 'वेद' के आधार पर कोई ऐसी अर्थनीति उपस्थित की जा सकती है जो युग के ज्वलंत प्रश्नों के उत्तर दे सके एवम् उलझी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सके।

इस गंभीर प्रश्न पर ग्रन्थ रचना तो कोई अर्थ-शास्त्री ही कर सकता है। हम तो संप्रति कुछ प्रश्नों पर विचार कर कतिपय सूत्रमात्र प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। पाठक या विद्वत् जन इन पर मनन करें और यदि हमारे चिन्तन में कहीं त्रुटि हो तो हमें अवगत कराएँ। हमारा दृष्टिकोण 'वेद' की ऋचाओं पर आधारित है, और हम इस दिशा में विद्वानों के सुझावों का स्वागत करेंगे।

अर्थनीति का आधार

प्रत्येक चिन्तन का प्रेरक कोई आधार होता है। आज के अर्थशास्त्र का आधार है "शरीर"। शारीरिक अर्थात् भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाने से संबद्धशास्त्र ही है अर्थ-शास्त्र। पाश्चात्य आधुनिक अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ हैं और इन्हीं की पूर्ति के लिए उन्होंने मार्ग दर्शन किया है। किन्तु वैदिक विचारधारा में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताएँ धर्म और मोक्ष से निर्देशित होकर चलती हैं, वैदिक ऋषि यह मानते हैं कि भौतिक जगत् में 'अर्थ' ऐश्व

काम जीवन संचालनार्थ आवश्यक साधन हैं किन्तु वे अर्थ और काम को साधनमात्र ही मानते हैं—साध्य कोटि में "धर्म" और "मोक्ष" ही रहता है। इसी बात को और भी स्पष्ट करना हो तो इस प्रकार किया जा सकता है कि आज का अर्थ-शास्त्र केवल भौतिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है और उसका चिन्तन सूत्र शारीरिक आवश्यकताओं तक ही सीमित है किन्तु इसकी तुलना में वैदिक व्यवस्था में 'शरीर' और 'आत्मा' दोनों की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। पाश्चात्य अर्थ व्यवस्था स्थिति जन्य वायुमंडल की प्रतिक्रियाओं का ही परिणाम है। उसका जन्म भी अन्य पाश्चात्य दर्शनों के ही तुल्य कुतुहल बुद्धि एवम् तद् जनित प्रश्नों और ज्ञान पिपासा की शान्ति के प्रयासों का परिणाम है। यह भी सत्य है कि आज पाश्चात्य अर्थ व्यवस्था के साम्यवाद एवम् समाजवाद सरीखे दर्शनों का प्रादुर्भाव बहुत बड़ी सीमा तक व्याख्याताओं व उद्गाताओं ने राज-नीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी किया था और आज भी यह क्रम जारी ही है। क्योंकि साम्यवाद के मूल व्याख्याकार काल मार्क्स के दर्शन की व्यवस्थाएँ भी विभिन्न देशों के साम्यवादी कर्णधार अपने ढंग से कर रहे हैं। इसीलिए आज जहां मार्क्स दर्शन की चर्चा आर्थिक सिद्धान्तों के संदर्भ में की जाती है, वहाँ माओवाद की भी चर्चा है।

संक्षेप में कहा जाए तो यहा कहा जा सकता है कि पाश्चात्य आर्थिक दर्शन का उद्देश्य जहाँ केवल भौतिक आवश्यकताओं व समस्याओं का समाधान मात्र ही है, वहाँ वैदिक दर्शन धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों का साधक है अथवा यों भी कह लीजिए कि जहाँ पाश्चात्य आर्थिक दर्शन भौतिक दुःखों का शमन करने के उपायों के वर्णन तक सीमित है वहाँ वैदिक दर्शन का अन्तिम उद्देश्य है दुःख निवृत्ति, मृत्यु पर विजय अर्थात् मोक्ष प्राप्ति। हाँ अवान्तर उद्देश्य अर्थ-काम व धर्मार्जन भी है। **वैदिक अर्थ शास्त्र शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति शरीर के लाभ और आत्मा के विकास को साथ साथ लेकर करता है।**

'शरीर' वाहन है 'आत्मा' का। 'शरीर' का काम 'आत्मा' के विकास के विज्ञान में सहायक का है। शारीरिक उन्नति आवश्यक है, इसलिए कि आत्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो। आत्म ज्ञान के साथ साथ जिस अर्थ शास्त्र का विकास होगा, उसका आधार 'धर्म' होगा। उसका लक्ष्य 'मोक्ष' होगा, और उसका काम शरीर का पोषण, संवर्धन होगा।

'अर्थ' का तात्पर्य है शारीरिक आवश्यकता पूर्ति के साधन। ये साधन क्या हों ? कितने हों, कैसे जुटाए जाएं ? यह सभी कुछ अर्थ-शास्त्र

का विषय है, धर्म और मोक्ष का लक्ष्य रखने पर आवश्यकताएँ सीमित रहती हैं। शरीर की आवश्यकताएँ तो गिनी चुनी हैं, समस्या तब खड़ी होती हैं जब आवश्यकता वासना बन जाती है। शरीर जब भौतिक पदार्थों का उपयोग अपने विकास और संरक्षण के लिए करता है तब उसे जिसे वस्तु की कामना होती है, वह उसकी आवश्यकता होती है। किन्तु जब 'शरीर' किसी वस्तु में आनन्द की खोज करने लग जाता है, और उस वस्तु की प्राप्ति में अधिकाधिक सुख का अनुभव करता है और शरीर तक की लाभ हानि की बात भूल जाता है तब वह वासना की कोटि में आ जाता है।

वैदिक अर्थ व्यवस्था में शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का मार्ग तो प्रस्तुत है ही, उन आवश्यकताओं को कम-से-कम रखने का मार्ग दर्शन भी दिया गया है। जबकि पाश्चात्य अर्थ शास्त्र आवश्यकताओं को बढ़ा कर उन्हीं की पूर्ति को जीवन का लक्ष्य मानता है।

महात्मा कबीर ने इसी भाव को दोहे में व्यक्त करते हुए कितना सुन्दर कहा है।

गोधन-गजधन-वाजिधन, और रतनधन खान,
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान।

धन क्या है?

आधुनिक अर्थ-शास्त्र उन सभी वस्तुओं को 'धन' मानता है, जिनका क्रय विक्रय हो सके। किन्तु वेद के अनुसार

१—ब्राह्मण का धन "ज्ञान" (Knowledge) है।
२—क्षत्रिय का धन "शौर्य" (Heroism) है।
३—वैश्य का धन "व्यापार" (Commerce and money) है।
४—शूद्र का धन "श्रम" (Lobour) है।

पाश्चात्य आर्थिक चिन्तकों में से साम्यवादी और समाजवादी वर्ग विहीन समाज की स्थापना में विश्वास रखता है किन्तु (वेद) जन्म से व्यक्तियों में किसी भी प्रकार का भेद न मानते हुए कर्मों के अनुसार मनुष्य जाति को चार वर्णों में विभाजित करता है। समाज शास्त्र का यह मौलिक अन्तर अर्थ शास्त्र पर व्यक्तिगत प्रभाव डालता है।

एक ओर व्यक्ति की आवश्यकता रोटी-कपड़ा और मकान तक सीमित कर दी जाती है। सभी का उद्देश्य इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित रह जाता है किन्तु वैदिक दर्शन में ब्राह्मण—जो सब से अधिक

समाज में सम्मान और आदर का पात्र है, उसका धन "ज्ञान" है। अपने ज्ञान से वह समाज का मार्ग दर्शन करता है। उसका जीवन "ज्ञान" के चरणों में अर्पित है। फूंस की कुटिया और मिट्टी के बर्तनों वाले ब्राह्मण के चरणों में सम्राट व धनपति का सिर झुक जाता है। ब्राह्मण इसलिए ऊँचा और महान् है कि उस के पास "ज्ञान" रूपी धन है। वह भौतिक सम्पदा के पीछे नहीं भागता। उसका लक्ष्य "ज्ञान" है। उसका "ज्ञान" उसे ऊपर उठाता है।

क्षत्रिय समाज की रक्षा करता है। उसे आततताइयों से बचाता है। शरीर का बलिदान देकर भी वह समाज को रक्षा करता है। उसका धन "शौर्य है" वह समाज का प्रहरी है। शक्ति संचय द्वारा वह अपने को जितना शूरवीर और राष्ट्र रक्षा में समर्थ बनाता है, वह उतना ही ऐश्वर्य संपन्न समझा जाता रहा है।

'वैश्य' व्यापार करता है। भौतिक पदार्थों का उत्पादन करता है। अपने ज्ञान और विज्ञान से समाज के लिए समस्त भौतिक साधन संग्रह के पीछे उसका उद्देश्य समाज का सुख है। अन्न, गौ, पशुधन, एवम् वस्त्र, मकान, सामान आदि भौतिक पदार्थों की, स्वर्ण, रत्न, भण्डारों की वृद्धि करना "वैश्य" का काम है।

आज की भाषा में जिसे अर्थ-शास्त्र कहा जाता है वह वस्तुतः केवल वैश्य का शास्त्र है। वैश्य व्यापार करता है, धन संग्रह भी करता है। वह अपार संपत्ति का स्वामी भी होता है, किन्तु इस पर भी एक अंकुश है—

धर्म का अंकुश, मोक्ष का अंकुश

यह अंकुश उस के मानस में निरंतर एक ध्वनि गुँजाता है। '**इदन्न मम्**' यह सब मेरा नहीं है। मैंने इसे कमाया है, पर यह मेरा नहीं है।'

प्रश्न गूँजता है कि फिर यह सब किसका है.................धर्म उत्तर देता है यह धन उसका है जिसे इसको आवश्यकता है! और यदि कोई झूठी आवश्यकता बताए तो...................कौन निर्णय करे... ....कि आवश्यकता किसे है?—राजा, प्रजापालक राजा निर्णय करे कि धन किसको कितना चाहिए!

धन का कैसा प्रयोग हो, इस के लिए **यज्ञ का मार्ग वैदिक अर्थनीति का दिशा सूचक निर्देशक है।**

वैदिक दृष्टि से "धन" नाम है संग्रह का, जीवन साधन धन नहीं हैं। संग्रहीत साधन ही धन हैं और संग्रह का अधिकार केवल वैश्य को है।

दैनिक यज्ञ में हम प्रार्थना करते हैं कि—

प्रसुव यज्ञं

हे प्रभो ! हमें यज्ञ की प्रेरणा करो। क्योंकि "यज्ञ" नाम है उस शास्त्र का, जो श्रेष्ठतम कर्म का निर्देश करता है। (Science of Holy action)।' मंत्र आगे कहता है—

प्रसुव यज्ञपतिं—

यज्ञ के पालन करता को यज्ञ मार्ग पर चलने की प्रेरणा करो। प्रश्न उठता है—क्यों ?

वेद कहता है—"भगाय"।
ऐश्वर्य के लिए, धन के लिए।
उन्नति (Prosperity) धन है !
अभ्युदय (Dignity) धन है !
यश (Glory) धन है !
सौन्दर्य (Beauty) धन है !
प्रेम (Love) धन है !
प्रयत्न-पुरुषार्थ (Exertion) धन है !
स्वतन्त्रता (Freedom) धन है !
इच्छाशक्ति (Desire) धन है !
शरीर का पोषण करने वाले पदार्थ (Wealth) धन है !
ज्ञान (Knowledge) धन है !
शक्ति (Power) धन है !
श्रम (Labow) धन है !
इन धनों को हम यज्ञ से, यज्ञ के लिए प्राप्त करें।

शब्दों पर ध्यान दीजिए। धन यज्ञ मार्ग से प्राप्त करें, और यज्ञ के लिए, सभी के कल्याण के लिए प्राप्त करें।

उपरोक्त विवेचन स्पष्ट करता है कि वैदिक अर्थनीति का आधार—

१—शरीर और आत्मा का कल्याण है।
२—वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार सभी वर्णों का धन पृथक-पृथक है।
३—धन का संग्रह और उद्देश्य सभी का कल्याण है।
४—धर्म और मोक्ष, अर्थ और काम के नियंत्रक हैं।
५—धन मनुष्य की आवश्यकता है। वह लक्ष्य नहीं है।
६—"यज्ञ" वैदिक अर्थनीति का निर्देशक है।

वैदिक अर्थनीति में सबसे बड़ा धनी वह है जो किसी पर भी निर्भर नहीं है। जो किसी की भी सहायता की अपेक्षा नहीं रखता जिसका प्रत्येक पदार्थ दूसरों के लिए है। आज के अर्थशास्त्र में और वैदिक अर्थ-शास्त्र में जो मौलिक अन्तर हैं उनकी पृष्ठभूमि समझे बिना वैदिक अर्थ-शास्त्र पर विचार चिन्तन संभव नहीं। क्योंकि प्रत्येक दर्शन के कुछ प्रेरक तत्व होते हैं। आधुनिक चिन्तन में 'शरीर' ही लक्ष्य है, और वैदिक दर्शन में "शरीर" "और" "आत्मा" को एक साथ रख कर 'आत्मा' के विकास को ही लक्ष्य माना गया है।

वैदिक चिन्तन के अनुसार धन यज्ञ के लिए है और सब प्रजापालक या प्रजापति का है। जब यह कहा जाता है कि यज्ञ के लिए ही धन है तो उसका तात्पर्य यह भी है कि उसका उपयोग प्रजा के पालन के लिए हो। क्योंकि यज्ञ का अर्थ है ऐसा कर्म जिससे श्रेष्ठों का संस्कार होता हैं, संगति करण अर्थात् प्रजा का संगठन होता है और असहायों को आवश्यकतानुसार सहायता प्राप्त होती हैं। संक्षेप में सत्कार 'संगति' दानात्मक कर्म ही यज्ञ है और सब धन यज्ञ के लिए है, इसका तात्पर्य है कि धन का प्रजा के हित व कल्याण के लिए ही उपयोग हो।

वैदिक दर्शन का निष्कर्ष है कि जीवन सत्य है। किन्तु 'आत्म' तत्व के बिना जीवन 'मृत्यु' में परिवर्तित हो जाता है। जो 'आत्मा' को नहीं जानता वह शास्त्र अधूरा और एकांगी है। एकांकी चिन्तन किसी समस्या के हल तक नहीं पहुँचा सकता। अतः आधुनिक पर्यावरण में जीवन की समस्या का निदान आवश्यकतानुसार "शरीर" और "आत्मा" को साथ साथ रखकर करना परमावश्यक है।

'वेद' अर्थ को शरीर के विकास का साधन मानता है। आधुनिक चिंतक अर्थ को शरीर का लक्ष्य स्वीकार कर शरीर को अर्थ के लिये लगाने की भावना प्रेरित करता है। "धन" चाहिए इसलिए कि 'शरीर" का रथ "आत्मा" को मंजिल तक पहुँचा सके। इसी दृष्टि से वैदिक अर्थशास्त्र सभी भौतिक समस्याओं पर चिंतन करता है।

हमारा विश्वास है कि मनुष्य 'अर्थ' का प्रयोग जीवन के सुख-आनंद और शांति के लिए करे!

"अर्थ" को अपना साधन समझे,
"अर्थ" का दास न बने।
--अर्थ के 'स्वामी' हम बनें यह वैदिक अर्थनीति है।
--'अर्थ' हमारा स्वामी बने यह आधुनिक चिन्तन है।

इस मौलिक भेद को समझ कर ही हम समस्या का समाधान खोज सकेंगे।

धन की आवश्यकता

वैदिक धर्म, में 'अर्थ' और 'काम' को जीवन का आवश्यक अंग स्वीकार किया गया है। क्योंकि दोनों शरीर रूपी गाड़ी को चलाने वाले पहिये हैं। जिन के सहारे शरीर लक्ष्य की ओर बढ़ता है। 'अर्थ' जीवन निर्वाह के लिए परमावश्यक है और इस के अभाव में कोई भी व्यक्ति संसार में रहकर अपने को सुखी अनुभव नहीं कर सकता। अर्थ की महत्ता धर्म के तुरन्त पश्चात पुरूषार्थ चतुष्टय में अर्थ की गणना से ही स्पष्ट हो जाती है।

धन संग्रह का मार्ग

धन संग्रह हेतु मनुष्य मात्र के लिए पाँच स्वर्णिम नियम वैदिक अर्थ शास्त्र के आधार हैं—

१--हमारे अर्थ संग्रह से किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। अर्थात् पर उत्पीड़न द्वारा धनोपार्जन की अनुमति नहीं है।

२—अर्थ संग्रह से हमारे शरीर को भी हानि न पहुँचे।

३--अपने पुरुषार्थ से ही अर्थ संग्रह किया जाए। किसी अन्य की सहायता से नहीं।

४--अर्थ संग्रह के साधन भी पवित्र हों। और इस कार्य में कोई गर्हित कर्म न किया गया हो।

५--अर्थोपार्जन के कारण-हमारे स्वाध्याय में, आत्मचिन्तन में कोई बाधा न पड़े।

अर्थ संग्रह का जो मार्ग इन पाँच सूत्रों के आधार पर बनाया जाएगा, उस से 'व्यक्ति' समाज या राष्ट्र को कोई हानि किसी भी स्थिति में न होगी। आर्य धर्म में प्रत्येक व्यक्ति अर्थ संग्रह करते हुए किसी भी क्षण यह विस्मृत नहीं करता कि कहीं उस के किसी कर्म से मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग में बाधा न आ जाए। वह 'धर्म' पथ से एक पग भी विचलित न हो जाए।

अर्थ संग्रह के चार वर्ग

प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कहीं का हो, कुछ भी विचार रखता हो, उसका अर्थ संग्रह चार कार्यों के लिए ही होता है!

१—भोजन—मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है। व्यक्ति के पास जो भी साधन उपलब्ध हों, उन से वह सर्व प्रथम भोजन का प्रबन्ध करता है। भूखे रहकर कोई न चिन्तन कर सकता है, न कोई सद्कार्य। भोजन सब से अधिक आवश्यक है और धन द्वारा सब से प्रथम प्रबंध–भोजन का ही किया जाता है।

भोजन का अर्थ है वह पदार्थ, जिन से शरीर स्वस्थ और पुष्ट हो। मनुष्य को खुलकर भूख लगे और वह अपने श्रम से उत्तम अर्थात् स्वास्थ्य कर भोजन जुटा सके, यह अर्थोपार्जन का प्रथम लक्ष्य है।

२—वस्त्र—भोजन के पश्चात् दूसरी आवश्यक्ता है सभ्य व्यक्ति को वस्त्र की! वस्त्र का उद्देश्य है शरीर को सर्दी, गरमी से बचाना और लज़्जा का आवरण। अर्थ से जो वस्त्र प्राप्त हों वह ऐसे हों जिन से शरीर को लाभ हो।

किन्तु जब शरीर के लाभ के स्थान पर शरीर को सजाना वस्त्रों का उद्देश्य बन जाता है तो 'वेद' का मार्ग विस्मृत हो जाता है। असमानता और विग्रह का कारण शरीर को सजाने की यह वासना ही है।

३—अर्थ प्राप्ति का तीसरा उद्देश्य है घर। ऐसा घर जहाँ सर्दी—गर्मी—बरसात में व्यक्ति शरीर की रक्षा कर सके। सुन्दर, सादा कलात्मक फूलों की बेलों से घिरा घर 'अर्थ' संग्रह का लक्ष्य है।

किन्तु ऊँची-ऊँची भव्य अट्टालिकाएँ व्यक्ति के विकास की साधक नहीं, उस की वासना और बहिर्मुखी प्रवृत्ति की प्रदर्शकबन कर महल और कुटिया के भेद का कारण बन गयी हैं। आवश्यकता के स्थान पर वैभव प्रदर्शन के लिए बनी इन अट्टालिकाओं के परिणामस्वरूप भी आज के समाज में एक दूसरे के प्रति वैमनस्य भाव जागा है।

४—अर्थ संग्रह का चतुर्थ लक्ष्य है, गृहस्थी **अर्थात परिवार**! सुन्दर सा छोटा सा, परिवार संसार की लघुतम ईकाई! छोटे-छोटे परिवारों के सुखद निर्माण का आधार है अर्थ, परिवार के विकास का आधार है अर्थ, यह परिवार वेद की भाषा में उस संसार का आधार बन निर्माण करता है जो इस वाक्य में वर्णित है।

यत्र विश्वं भवत्येक नीड़ं

संसार एक घोंसला बन जाए! व्यक्ति ऐसे परिवार बनाएं जो परस्पर सुख बाँट लें, दुःख बाँट लें ताकि फिर कहीं दुःख न रहे।

भोजन—वस्त्र—घर और गृहस्थी इन को आनन्द पूर्वक आवश्यकतानुसार प्राप्त करने के लिए व्यक्ति 'अर्थ' प्राप्त करता है। अर्थ प्राप्ति के वैदिक साधन हम इसी अध्याय में पहले बता चुके हैं। इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध है कि वैदिक अर्थ शास्त्र का उद्देश्य है—

१—धन का धर्म से संग्रह
२—संग्रहीत धन का धर्म से प्रयोग
३—प्रयोग से सभी का कल्याण
४—कल्याण से आत्म सन्तोष की अनुभूति
५—और आत्म सन्तोष से आनन्द प्राप्ति।

वैदिक अर्थ शास्त्र—

आवश्यकताएँ सीमित रखते हुए शरीर के विकास और आनन्द के साधन जुटाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

—सभी के सुख में अपना सुख समझने की भावना से 'अर्थ' का प्रयोग करता है।

—संसार की आर्थिक असमानता को प्यार; ममत्व और अपनत्व की भावना से समाप्त करते हुए 'अर्थ' को जीवन की आवश्यकता समझता है। जीवन को 'अर्थ' के लिए भेंट नहीं चढ़ाता। इस व्यवस्था में इसी सत्य को अंगीकार किया जाता है कि मनुष्य का पेट तो होता है किन्तु मानव जीवन का उद्देश्य पेट भरना मात्र ही नहीं है।

मनुष्य और पशु में अन्तर केवल यही है कि वह "अर्थ" 'काम' के साथ "धर्म" और "मोक्ष" को भी अपनाता है। और अर्थ काम में तो पशु मनुष्य से आगे हैं किन्तु धर्म मोक्ष का चिन्तन उनके पास नहीं है। मनुष्य मननशील सामाजिक प्राणी है। वह समाज के अर्थात् सभी के कल्याण की दृष्टि से चिन्तन करता है। धर्म की राह पर चलते हुए व्यक्ति धन संग्रह और अर्थोपार्जन में पूर्ण स्वतंत्र है। किन्तु जब वह धर्म की राह छोड़कर अधर्म द्वारा धन संग्रह करना चाहता है तब राज्य दंड द्वारा व्यक्ति को रोकता है। क्योंकि वेद की यह मान्यता है कि व्यक्ति अस्थायी है और समाज स्थायी! —अतः व्यक्तिगत रूप से धन संचय करने के उपक्रम में समाज के हित की अवहेलना अक्षम्य है। राज्य की स्थापना ही धर्म की

रक्षा और अधर्म की समाप्ति के लिए होती है।

जीवन के सर्वतोमुखी विकास के लिए "अर्थ" की आवश्यकता है। व्यक्ति उस अर्थ से अपना, अपने परिवार का, 'ग्राम' नगर और विश्व का विकास करे,जो व्यक्ति अपने बुद्धि चातुर्य से अधिकाधिक धन उपार्जितकर उसे समाज व बड़े--से बड़े भाग के लिए प्रयुक्त करे वह उतना ही महान् और यशस्वी हो, क्योंकि वैदिक व्यवस्था में यह भी स्पष्ट निर्देश है कि राजा का भी अन्तिम और महान् दायित्व है प्रजापालन। व्यक्ति धन संग्रह और उपार्जन में धर्म का मार्ग अपनाए। व्यय और वितरण में धर्म से प्रेरणा प्राप्त करे। आवश्यकताएँ अपनी—परिवार--ग्राम--और राष्ट्र विश्व की पूर्ण करने में अधिकाधिक सहयोग देना वैदिक अर्थ शास्त्र का निर्देशक सिद्धान्त है।

"धन" नाम है उस संग्रह का जो व्यक्ति आवश्यकताएं पूर्ण करने के पश्चात् संग्रह करता है। संग्रह का अधीकार केवल "वैश्य" का है अन्य वर्णों का नहीं।

राष्ट्रीयकरण
या
विकेन्द्रीयकरण

आधुनिक अर्थ व्यवस्था के दो प्रमुख वादों की ही आज चतुर्दिक चर्चा सुनाई पड़ती है। इनमें से एक है समाजवाद या साम्यवाद तथा दूसरा पूँजीवाद—-

जहाँ तक पूँजीवादी व्यवस्था का प्रश्न है उसकी परिभाषा इस प्रकार की जाती है।

पूँजीवाद ऐसी अर्थ व्यवस्था को माना जाता है जिसमें भूमि, श्रम, पूँजी, व्यवस्था, साहस आदि उत्पत्ति के समस्त साधनों पर निजी नियंत्रण व अधिकार होता है और लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से ही उत्पादन किया जाता है। समस्त भूमि, खानें, मिल, कारखाने, यातायात के साधन तथा अन्य सब प्रकार के साधन व स्रोत निजी नियन्त्रण व अधिकार में होते हैं और इनके स्वामी इन सब का प्रयोग पूर्ण स्वतन्त्रता से लाभ प्राप्ति के लिए इच्छानुसार करते हैं। वास्तव में लाभ प्राप्ति का उद्देश्य पूँजीवाद में एक बहुत महत्वपूर्ण और आधारभूत उद्देश्य माना जाता है और इससे समस्त आर्थिक क्रियाओं का संचालन होता है।

इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था में जहां आर्थिक क्रियाओं में पूर्ण स्वतन्त्रता की व्यवस्था है वहां धन सम्पदा के केन्द्रीयकरण की भी।

अर्थ व्यवस्था का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है समाजवाद। इसकी परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की जा सकती है।

"समाजवाद आर्थिक संगठन का वह रूप है, जिसमें उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है और उत्पत्ति के साधनों का उपयोग करने की भी उसे ही पूर्ण छूट है।

इसकी व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है कि 'धनोत्पत्ति के साधनों पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व नहीं होता, अपितु देश के उत्पत्ति के समस्त साधनों का राष्ट्रीयकरण हो जाता है और उनका

स्वामित्व व नियन्त्रण समाज अथवा सरकार के अधीन होता है। भूमि खानें, वन, मिल, कारखाने, यातायात के साधन, बैंक, व्यापार आदि सभी का पूर्णतः राष्ट्रीयकरण हो जाता है।

इस प्रकार पूंजीवाद में जहाँ व्यक्ति के हाथ में सम्पदा का निरंकुश केन्द्रीयकरण होता है वहाँ राष्ट्रीयकरण ही समाजवाद की आधार शिला है। वस्तुतः ये दोनों ही आर्थिक व्यवस्थाएँ एकाँगी और अपूर्ण हैं। आज स्वदेश में पूंजीवाद से धनी तो पनप रहा है किन्तु आधुनिक अर्थ व्यवस्था का एक मोहक नारा बन गया है "राष्ट्रीयकरण"। राष्ट्रीयकरण का अर्थ है कि अर्थ उत्पादन के साधनों की प्रबंध व्यवस्था व्यक्तियों के हाथ में न रह कर शासन के हाथ में रहे।

शासन किसी अलौकिक वस्तु का नाम नहीं। शासन भी व्यक्तियों द्वारा ही प्रबंध कराता है। किन्तु अन्तर इतना आ जाता है कि वैदिक व्यवस्था में लाभ हानि की चिन्ता व्यक्ति करता है किन्तु राष्ट्रीयकरण की स्थति में हानि लाभ की चिन्ता करने वाला कोई भी नहीं रहता।

राष्ट्रीयकरण के समर्थक यह सर्वथा विस्मृत कर देते हैं कि व्यक्ति से राष्ट्र बनता है। राष्ट्र व्यक्ति के बिना शून्य की स्थिति रखता है,समष्टि का निर्माता भी व्यक्ति है और व्यक्ति ही वह सब से छोटी ईकाई है जिस से समाज और राष्ट्र बनता है।

वैदिक अर्थ व्यवस्था व्यक्ति को केन्द्र बना कर चलती है। व्यक्ति ईमानदार हो, कर्तव्य परायण हो, बुद्धिमान हो और परिश्रमी हो। ऐसा व्यक्ति जिस कार्य को भी करेगा, उस में सफल होगा। अर्थोपार्जन या वस्तु निर्माण की प्रक्रिया व्यक्ति करता है। व्यक्ति की योग्यता वस्तु को अच्छा और अयोग्यता खराब बनाती है।

वैदिक धर्म में धन उत्पादन और संग्रह का अधिकारी व्यक्ति है। व्यक्ति जब तक धर्म पूर्वक धन कमाता और काम करता है तब तक राज्य को उस में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं। राज्य केवल अपना भाग ले सकता है, धर्म का अंकुश व्यक्ति पर रहता है और उसी से वह धन कमाता है, खर्च करता है। संग्रह कर उस का उचित प्रयोग करता है।

वेद का एक मंत्र भाग इस संबंध में हमारा मार्ग दर्शन कर रहा है।
शत हस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर।
अथर्व-३-२४-५

प्रभु मनुष्यों को आदेश दे रहा है कि तुम १०० हाथों से धन कमाओ और हजार हाथों से बखेर दो। इस मंत्र भाग को हम वैदिक अर्थ व्यवस्था का घोषणा पत्र कह सकते हैं।

व्यक्ति अपने पूरे बल से,
अपने संपूर्ण सामर्थ्य से,
बुद्धि और चातुर्य से,
धन कमाए और संग्रह करे—

किन्तु साथ ही 'वेद' यह भी आदेश देता है कि उस कमाए हुए धन को हजारों हाथों से अर्थात् धन कमाने से भी दस गुना अधिक शक्ति से बखेर दे, फैला दे, वितरित कर दे। **धन का उत्पादन, व्यक्ति करे, उत्पादन पर उस का अधिकार रहे, उत्पादन उस का हो—पर वह उस अपने धन को बखेर दे या बाँट दे।**

अर्थ व्यवस्था का यह स्वर्णिम सिद्धान्त युग के वर्ग संघर्ष की समाप्ति का एक मात्र हल है। यह भी स्पष्ट है कि निरकुश पूंजीवाद और समाजवाद दोनों ही आर्थिक पद्धतियाँ वर्ग संघर्ष को बढ़ावा देती हैं। वैदिक अर्थ व्यवस्था इस वर्ग संघर्ष की समाप्ति का क्या समाधान प्रस्तुत करती है। यही स्पष्ट करने का प्रयास हम कर रहे हैं।

एक पिता अपनी पूरी शक्ति से धन कमाता है अपना खून पसीना बहाकर कार्यालय आदि में काम करता है। एक मास की समाप्ति पर उसे धन मिलता है। उस धन से वह अपने परिवार के लिए सामान क्रय करता है। घर पर सभी के लिए सामान लेकर प्रसन्न प्रसन्न आता है, पत्नी को साड़ी देता है। पिता को पगड़ी देता है। मां को कोई और भेंट देता है। बच्चों को खिलौने देता है। सभी आनन्द में मग्न हो जाते हैं। और धन के स्वामी का मन हर्ष से परिपूर्ण हो जाता है।

—धन किसने कमाया ?
गृहपति ने।
—धन किस का था ?
गृहपति का।
—धन को व्यय करने का अधिकार किसे था ?
गृहपति को !

किन्तु गृहपति ने उस अपने धन को अपने ऊपर व्यय न कर बांट दिया।

—किस में ?

अपनों में।

—उसे क्या मिला ?

आनन्द प्रसन्नता और सुख।

क्यों ?

क्योंकि गृहपति जिनको प्यार करता था उनके लिए उसने स्वेच्छया अपने धन का व्यय कर दिया।

किन्तु ऐसा न हो कर यदि ऐसा होता कि गृहपति को जो धन मिला, उसमें नियम होता है कि—

१/[illegible] पत्नी को, १/[illegible] लड़के को, १/[illegible] मां को, १/[illegible] पिता को, १/[illegible] लड़की को और १/[illegible] बहन को देना ही पड़ेगा। तब क्या स्थिति होती ? तब गृहपति भी धन छिपाता, परिवार में भी संघर्ष रहता और सब उसी धन के लिए पागल रहते !

मानसिक दृष्टि से धन के प्रयोग के प्रकार में अंतर होने से धन विष बन जाता है। धन वस्तुतः एक ऐसी शक्ति है जिस से सभी परिचालित होते हैं। प्राचीन वैदिक संस्कृति में धर्म नाम था उन नियमों का,उस विधान का जा प्यार, स्नेह और एकता के पवित्र ढंग से ऋषि मनीषियों ने बनाए थे।

संसार की सारी व्यवस्था को प्रेम के मंत्र से चलाने के लिए बनाए गए नियमों का नाम धर्म है।

यही प्रेम परिवार में धन के बाँटने पर व्यक्ति के अन्तर में हर्ष की गंगा बहाता है और प्रेम की यही परिधि बड़ी बन कर समाज, राष्ट्र और विश्व की विशाल धरती तक फैल जाती है और व्यक्ति अधिकाधिक धन कमा कर अधिकाधिक व्यक्तियों तक उसे बखेर कर अधिकाधिक आनन्द अनुभव करता जाता है।

वैदिक अर्थ नीति का आधार है विकेन्द्रीयकरण—धन जितना अधिक बिखरेगा, उतना संसार आगे बढ़ेगा। और धन संग्रह की प्रवृत्ति जहां भी जन्म लेगी वहां युद्ध, ईर्ष्या, द्वेष, वर्ग संघर्ष उत्पन्न होंगे।

व्यक्ति के हाथ में रहा हुआ धन जब धर्म के नियमों से प्रेरित हो फैलता है तब धरती स्वर्ग बन जाती है।

और जब राज्य व्यक्ति के स्वामित्व को समाप्त कर सब कुछ अपना बनाना चाहता है तो व्यक्ति का विकास, उत्कर्ष, स्वतन्त्रता, प्रसन्नता सभी कुछ समाप्त हो जाती है। तब व्यक्ति मनुष्य न रह कर मशीन बन जाता है केवल मशीन।

वेद कहता है— मा गृधः

धन का लालच मत कर। जहां धन पर मन ललचाया, समझो सब कुछ बिगड़ा। यह लालच ही जहर है। यही संग्रह केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को जन्म देता है! अतः धन कमाओ और बखेरो, आनन्द मिलेगा।

धन का संग्रह कर ललचाओगे
दुःख बढ़ेंगे, कष्ट मिलेगा।

इस तथ्य को हम जितना शीघ्र समझ लें उतना ही कल्याण है!

वैदिक अर्थ शास्त्र के अनुसार धन को कहीं पर भी एकत्रित नहीं रहना चाहिए, न व्यक्ति की तिजोरी में, न राजा के भन्डार में। सब उसे बाँटते रहें। सभी के प्रयोग के लिए धन गंगा की धारा की भांति बहता रहे! जहां जिसे उस की जितनी आवश्यकता हो वह उसका प्रयोग कर ले। पर साथ ही एक प्रेरणा धर्म की ओर—

अपनी आवश्यकताएं कम करो! जो आपके शरीर के विकास मस्तिष्क-मन के उत्कर्ष के लिए आवश्यक है वही आपकी आवश्यकता होनी चाहिए।

वेद कहता है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा। यजु—४०-१

धन को त्याग से भोगो! संग्रह की वृत्ति मत बनाओ।

धन का भोग शरीर के लिए करो!
शरीर का भोग धन के लिए न करो!!

वैदिक अर्थ शास्त्र का यह स्वर्णिम सिद्धान्त अर्थ शास्त्र का वह दिशा निर्देश है जिस पर चिन्तन कर सभी पक्ष आर्थिक जटिलताओं से मुक्त हो सकते हैं।

तनिक कल्पना कीजिए कि यदि सभी के पास जो संग्रह है वह वितरण की स्थिति में आ जाए तो अभाव कहाँ रहेगा ? वस्तुतः धन का उद्देश्य है अभाव की समाप्ति ! जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता हो वहाँ वह वस्तु पहुँचे ! धर्म की भावनासे सभी अभाव की पूर्ति करें।

राज्य और अर्थ

धर्म की रक्षा के लिए राज्य की स्थापना होती है। धर्म की रक्षा ही एक मात्र राज्य का उद्देश्य है। यहां हम यह भी स्मरण रखें कि धर्म नाम हैं उस विधान का, जिस पर चल कर मनुष्य मनुष्य बनता है। [**व्यक्ति धर्म मार्ग पर चले, यह व्यक्ति का कर्त्तव्य है। व्यक्ति धर्म से भटके तो व्यक्ति को धर्म मार्ग पर चलाना राज्य का अधिकार है।**

धन व्यक्ति का है।
व्यक्ति धन का स्वामी है।
व्यक्ति धन का भोक्ता है !
व्यक्ति का कार्य धन से अभाव की समाप्ति है।
व्यक्ति का कार्य धन का धर्म पूर्वक वितरण है।
व्यक्ति धन को बांटता रहे।
व्यक्ति धन को कमाता रहे। पर संग्रह कभी न करे।

व्यक्ति वसुधैव कुटम्बकं की उदात्त भावना से—संसार को परिवार समझे और जैसे अपने धन का वितरण परिवार में कर आनन्द अनुभव करता है वैसे ही उस धन का वितरण राष्ट्र-विश्व में कर आनन्द अनुभव करे।

सैकड़ों हाथों से धन का उपार्जन कर सहस्रों हाथों से उसे बांटने की प्रक्रिया का उदात्त रूप ही प्राचीन काल में होने वाले सर्वमेध यज्ञ में व्यक्त होता था। उस यज्ञ में अपना समग्र-धन जन हितार्थ समर्पित कर देने का विधान हैं ! उस यज्ञ को संपन्न करने वाला सम्राट भी दूसरे दिन मिट्टी के पात्र बर्तने लग जाता था। इस यज्ञ का एक मात्र उद्देश्य था धन का वितरण। अतः यह स्पष्ट है कि आज भी वैदिक अर्थ व्यवस्था ही व्यष्टि को समष्टि तक के लिए सुख और शाँति का सुपथ प्रशस्त कर सकती है।

समाजवाद या अच्छा मार्ग

आज अपने देश में एक ऐसी स्थिति विद्यमान है कि जिससे हर समस्या के निवारण की समाजवाद को अचूक औषधि समझ कर उसकी स्थापना ही देश का लक्ष्य घोषित किया जा रहा है। समाजवाद लाने के सुनहले स्वप्न ऐसे दिखाए जा रहे हैं मानो समाजवाद के आते ही सारी परेशानियाँ समाप्त हो जाएंगी, किन्तु पिछले १०-१५ वर्ष का अनुभव बता रहा है कि "मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की।" १९५७ से १९७४ तक के १७ वर्षों में समाजवाद ने देश को यदि कुछ दिया है, तो—

गरीबी,
बेकारी,
भ्रष्टाचार,
रिश्वत और अराजकता।

१९५७ से पहले जब शासन का यह घोषित उद्देश्य नहीं था तब तो देश में कुछ कथित क्रांतिकारी पग उठाए गये थे। जमींदारी प्रथा की समाप्ति और पंचायत पद्धति की स्थापना १९५२ से पूर्व की देन हैं। इस नारे ने देश की जो दुर्दशा कर दी है उसका परिचय भारत के प्रत्येक नागरिक को है। हम इस स्थिति का विश्लेपण न करते हुए समाजवाद की आधारभूत हानियों का विचार प्रस्तुत करना ही उचित समझते हैं।

१—समाजवाद का आधार वर्ग संघर्ष है। समाजवादी मनुष्य मात्र को केवल दो वर्गों में बाँटता है। कमेरा और लुटेरा, शोषित और शोषक।

वर्ग संघर्ष का यह सिद्धान्त वस्तुतः असंतुलित मस्तिष्क की उपज है। समाज को इन दो वर्गों में बाँटना व्यावहारिक रूप से उचित नहीं है, न ही इससे संसार की समस्याएँ हल हो सकती हैं।

एक गरीब व्यक्ति अपने श्रम और अध्यवसाय से उन्नति करता हुआ संम्पन्न व्यक्ति बन सकता है। ऐसे अनेकों उदाहरण हम प्रायः देखते हैं। यदि स्थायी रूप से वर्ग संघर्ष की स्थिति स्वीकार कर ली जाए तो

व्यक्ति की उन्नति और विकास के अवसर समाप्त हो जाते हैं। इस से मनुष्य की उन्नति करने की स्वाभाविक इच्छा पर अंकुश लगता है जिसे कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता।

वैदिक अर्थ व्यवस्था में व्यक्ति को जन्म से समान माना जाता है। उसमें किसी भी प्रकार का कोई भेद या वर्ग नहीं माना जाता। हां कर्मों के अनुसार व्यक्ति को चार वर्णों में बांटा जाता है, और प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण समय-समय पर बदलता रहता है। ब्राह्मण पतित होकर शूद्र भी बन सकता है। और शूद्र उन्नति कर ब्राह्मण बन सकता है। कर्मों के अनुसार वर्ण वरण करने की भावना व्यक्ति को उन्नति के लिए सदैव प्रेरित करती रहती हैं।

२—मनुष्य की एकता और समानता के उदात्त सिद्धान्त को स्वीकार करती है।

३—समाज को सुखी-संपन्न बनाने के लिए परस्पर सहयोग और ताल-मेल की भावना से प्रयत्न करने की प्रेरणा करती हैं।

इसके विपरीत समाजवाद—

१—वर्ग संघर्ष के आधार पर समाज को दो भागों में बाँटता है।

२—दोनों वर्गों में प्रेम के स्थान पर घृणा फैलाता है।

२—व्यक्ति को विकास का अवसर प्रदान नहीं करता है।

४—समाज में हिंसा द्वेष का स्थायी स्थान बनाता है।

प्रत्येक विचारशील व्यक्ति सोचे कि जो समाजवाद मजदूर और किसानों के हाथ में ही राज्य का प्रबन्ध देना अपना लक्ष्य मानता है उस समाजवाद में,

१—दर्शन का उदात्त स्वरूप कैसे निखरेगा?

२—बुद्धि और मन के विकास का पथ प्रदर्शन कौन करेगा?

वर्ग संघर्ष से समाज पर और उत्पादन के समस्त साधनों पर मजदूर-किसानों का एकाधिकार—समाजवाद का लक्ष्य है। पर ऐसी स्थिति में व्यक्ति की स्वतन्त्रता कहाँ स्थिर रहेगी? मजदूर और किसान श्रमजीवी होते हैं। वे अपने एकाधिकार के लिए जिस ढंग से अपने से विचार भेद रखने वालों का रक्त भी बहाते हैं और जिस प्रकार विचार स्वातन्त्र्य का गला घोंटते हैं इसका उदाहरण रूस और उस जैसे देशों की पिछले २५-३० वर्षों की घटनाओं से प्रत्यक्ष है।

धर्म राज्य की व्यवस्था में व्यक्ति निजी रूप से स्वतन्त्र और सामाजिक सर्वहितकारी कार्यों में परतन्त्र है। समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता सर्वथा समाप्त हो जाती है और यही इस का सब से बड़ा दोष है।

समाजवादी व्यवस्था के स्थान पर वैदिक व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सभी व्यक्ति जहाँ समाजिक सर्वहितकारी नियमों के पालने में स्वतन्त्र रहता है वहाँ प्रत्येक हितकारी नियम का पालन करने में सभी परतन्त्र रहते हैं।

समाजवादी अर्थ व्यवस्था में समग्रसत्ता अन्ततः कुछ व्यक्तियों के एक समूह के ही हाथों में केन्द्रित हो जाती है। राज्य का कार्य है प्रजा का पालन, किन्तु समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सत्तारूढ़ होने वाले व्यक्तियों में भी निहित स्वार्थ जागता है और फिर वे सत्ता का निरंकुश उपयोग करते हैं। अतएव ऐसी सत्ता में प्रजा पालन या रंजन नहीं हो पाता अपितु जिस शोषण को मिटाने के नाम पर समाजवादी सत्तारूढ़ होते हैं वही शोषण उनका सत्तारूढ़ रहने का हथियार बन जाता है। इसके विपरीत वैदिक व्यवस्था का आधार यज्ञ है। और यज्ञ का अर्थ है—

इदन्न मम

सब कुछ मेरे पास है, पर यह मेरा नहीं है।

इतिहास का विश्लेषण बताता है कि समाजवाद पश्चिम के उस वर्ग की देन है जो ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से सर्वथा पिछड़ा हुआ था। जिस ने धर्म को केवल ईसाइयत के रूप में ही देखा था और ईसाइयत के खोखलेपन को देख कर जिसने धर्म शब्द के ही विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। कार्ल-मार्क्स ने तो यहां तक कह दिया था कि धर्म मानव मस्तिष्क के लिए अफीम के तुल्य है। किन्तु वेद का उदात्त धर्म मनुष्य मात्र के के जिन स्वर्ण सिद्धान्तों को उपस्थित करता है उनके रहते हुए भी जो व्यक्ति समाजवाद को अमृत समझते हैं तो यह उनके एकाँगी दृष्टिकोण का ही परिणाम है। अतएव गंभीरता व निष्पक्ष भाव से यज्ञ के शब्द और भावों पर चिन्तन किया जाना अपेक्षित है। यज्ञ पर आधारित अर्थ व्यवस्था को समझने का यत्न किया जाना चाहिये। हमारा विश्वास है

कि ऐसा होने पर समाजवाद का समर्थन कोई भूल कर भी नहीं करेगा। क्योंकि यज्ञ की अर्थ व्यवस्था प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण है। जब कि समाजवाद का दर्शन व चिन्तन और मनन अपूर्ण तथा अधिकचरा है। यहाँ हम संक्षेप से 'यज्ञ' व्यवस्था को सूत्र रूप में उपस्थित करते हैं।

वेद आदेश देता है

प्रसुव यज्ञं

यज्ञ की प्रेरणा करो।

प्रश्न उठता है—यज्ञ क्या है ?

अत्यन्त उच्च कर्म का नाम यज्ञ है। यज्ञ को यदि तप (Science of Holy action) श्रेष्ठ मार्ग का विज्ञान कहें,तो इसका सही भाव हम हृदयंगम कर सकेंगे। इस विज्ञान के दस सूत्र हैं।

१—उत्तम कर्म में किसी भी प्रकार की बाधा को न मानना।
२—अच्छा कार्य करने के लिए कष्ट सहने को तैयार रहना।
३—आत्म नियंत्रण रखना।
४—चोरी से किसी भी वस्तु को प्राप्त करने का यत्न न करना।
५—बिना श्रम के धन प्राप्त न करना।
६—बुद्धि-मन के प्रयोग से सब के लाभ के लिए अधिकाधिक उत्पादन करना !
७—धन के लिए सत्य का त्याग न करना।
८—धन संग्रह करते हुए भी किसी को किसी भी स्थिति में हानि न पहुंचाना।
९—धन की हानि से क्रोध या निराशा मन में न लाना।
१० ऐसे धन का उत्पादन करना जो सभी के लिए कल्याण कारी हो।

यज्ञ वैदिक अर्थ शास्त्र का दूसरा नाम है। यज्ञ व्यवस्था के अन्तर्गत इन १० नियमों के आधार पर धन संचय व्यक्ति करे।

ऋ० १०-२९-५ का मंत्र आता है...

गिरश्च ये ते तुविजातपूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षिन्त्यन्नैः।

हे (तुविजात नर इन्द्र) बलवान अग्रणी प्रभू ! (ये) जो लोक (अन्नैः) अन्नों के द्वारा लोकों को सहाय्य करते हैं, तथा जो (ते पूर्वी गिरः) तेरा पूर्ण अथवा प्राचीन उपदेश हरेक को सिखाते हैं—उन्हें प्रेरय अर्थं—

धन के लिए प्रेरणा करो

वेद कहता है—

प्रसुव यज्ञपति भगाय

जो व्यक्ति यज्ञ मार्ग पर चल रहा है उसे ऐश्वर्य प्राप्ति की निरंतर प्रेरणा करो ! यज्ञ मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए यत्न-शील रहता है।

वस्तुतः यज्ञ एक तपस्या है, वह एक मार्ग है जिस पर चलकर व्यक्ति अभाव को समाप्त करता है।

यज्ञ शत्रु है अभाव का
अभाव शत्रु है मनुष्य का
इस लिए यज्ञ मित्र है मनुष्य का

समाजवाद का उद्देश्य अमीरों को मिटाना है।

यज्ञ का उद्देश्य गरीबी और अभावों को मिटाना है।

प्रत्येक बुद्धिजीवी स्वयं विचारे कि क्या ठीक है और क्या नहीं !

धन का विभाग वेद इस प्रकार बताना है।

विभक्तारम हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।

सवितारं नृचक्षसम ।। यजु—३०-४

मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए धन के उत्कृष्ट साधनों का जिसने विभाग किया, जो सभी का सच्चा मार्ग दर्शक है—उसकी हम प्रशंसा करते हैं।

'वसु' शब्द इस मंत्र में महत्व का है। जिस साधन से मनुष्यों का जगत् में भली-भाँति रहना हो सके, उस वस्तु का नाम 'वसु' है।

'वसु' के अर्थ करते हुए वेदों के प्रसिद्ध प्रामाणिक विद्वान श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी ने लिखा है कि—"वसु संज्ञक राष्ट्रीय धन आठ प्रकार का बनकर राष्ट्र में संचार करता है।

१—अध्ययन

२—अध्यापन

३—स्वयं शक्ति सपन्न बनता,

४—दूसरों की रक्षा करना
५—स्वयं धन प्राप्त करना
६—दान द्वारा अच्छे कार्यों में उसका अर्पण करना।
७—स्वयं कुशल कारीगर बनकर
८—राष्ट्र को समृद्ध करना
धन का यह विभाग, वर्ण व्यवस्था के आधार पर

ब्राह्मण का धन "ज्ञान"—

क्षत्रिय का धन "शौर्य"
वैश्य का धन भौतिकउत्पादन
और शूद्र का धन "श्रम" सिद्ध करना है।

समाजवाद केवल शूद्रों की समस्या पर विचार करता है। अतः वह शास्त्र है। चारों वर्णों का नहीं, अतः वह अपूर्ण है।

प्रत्येक देश में मार्ग दर्शक, नेता, विधान निर्माता भी रहेंगे और हैं।
—सैनिक, वीर, योद्धा, रक्षक भी रहेंगे और हैं।
—उत्पादक, वर्ग भी प्रत्येक राष्ट्र और समाज का आवश्यक अंग है।
—कुछ व्यक्ति श्रमिक भी प्रत्येक राष्ट्र और समाज में रहेंगे और हैं।

वैदिक अर्थ-शास्त्र चारों वर्णों की समस्याओं पर पृथक-पृथक विचार कर सांमज्स्य उत्पन्न करने वाला मार्ग बताता है। समाजवाद सभी को एक ही लाठी से हांकने की पशु-प्रवृत्ति के अनुसार राह दिखाता है!

अतः वह अपूर्ण दर्शन है

वेद कहता है—

वसो चित्रस्य राधसः

वसु—अर्थात् आठ प्रकार का धन

राधसः—परिपूर्णता, पराक्रम, पूर्ण साधन, विजय, अभ्युदय, उन्नति के लिए

चित्र—तेजस्वो—आश्चर्य कारक—और सर्वोत्कृष्ट है!

वेद कहता है—

असंबाधं माध्यतो मानवानां

अथर्व...१२-१-२—हमारी भूमि के मनुष्यों के बीच में अद्वेष अर्थात् झगड़ा, आपस की लड़ायी नहीं है। इन चारों वर्णों में किसी भी प्रकार का कोई संघर्ष न हो। सब एक दूसरे के पूरक हैं। कोई किसी का विरोधी नहीं है। वेद की दृष्टि से—

सब व्यक्ति समान हैं।

कर्मों के अनुसार उनमें श्रेणी विभाजन है।

उन्नति के लिए सब को समान अवसर प्राप्त है।

वेद कहता है—

मरुद्भ्यो वैश्यम्

मनुष्यों के लिए वैश्यों को रखो।

मानव मात्र का पोषण करना वैश्यों का कार्य है। वैश्यों का धर्म है कि वे अपने राष्ट्र में किसी भी उपयोगी वस्तु का अभाव न होने दें।

वेद कहता है—

आक्रयायै अ-योगुम

वैश्य कैसा हो—क्रय विक्रय के विशेष प्रयत्न करनें वाला हो। राजा का या राज्य का कार्य व्यापार का नहीं है। जो राज्य स्वयं वैश्य बन जाता है वह अपना क्षात्र धर्म समाप्त कर देता है, और नष्ट हो जाता है। राजा का कार्य है कि वह वैश्य का निरीक्षण करे—उसे धर्म पूर्वक कार्य की प्रेरणा करे, पर स्वयं वैश्य न वने।

वेद कहता है—

श्रेयसे वित्त-धम्

कल्याण के लिए धन का धारण करने वाले को प्राप्त करो। 'वित्त-ध' का अर्थ है जो अपने पास बहुत धन रखता हो। साहूकार--महाजन आदि। राष्ट्र की उच्च स्थिति कंगालों से नहीं, धन संपन्न ऐश्वर्यवानों से बनती है। यह धन युक्त वैश्य धन से युक्त हों और राष्ट्र का अभाव दूर करें।

वेद कहता है—

इरायै की—नाशम्

अन्न के लिए किसान को प्राप्त करो। उत्पादन बढ़ाएं उत्तम किसान। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए किसान, रीढ़ की हड्डी है वह अन्न उत्पादक है, वैश्य है। उसका कार्य अन्न की वृद्धि है। अन्न उत्पादन राज्य का काम नहीं। किसान का काम है। अथर्ववेद ४-११-१० में स्पष्ट लिखा है कि—(पद्भिः) अपने पावों द्वारा (सेदिं) विनाश को पराजित करता हुआ और-(जंघाभिः) जाँघों द्वारा (इराँ) अन्न को (उत्-खिदन्) ऊपर करता हुआ (अनड्वान) बैल तथा (श्रमेण की-नाशः) कष्ट के साथ खेती करने वाले किसान ये दोनों (कीलाल) उत्तम अन्न पान को सब (अभिगच्छत,) सबप्रकार से प्राप्त करते हैं। मंत्र इस प्रकार है।

पद्भिः सेदिम वक्रामन्निरां जंघा भिसत्खिदन्।

श्रमेणानड्वात् कीलालं कीनाशश्चाभिगच्छतः ॥

वेद के यह मंत्र स्पष्ट बता रहे हैं कि उत्पादन का कार्य वैश्य का का है। राज्य का नहीं। राज्य जब किसान का काम संभाल लेता है तब राष्ट्र की जो दुर्दशा होती है उस का उदाहरण १९७३ में भारत में राज्य द्वारा अनाज का राष्ट्रीयकरण है। समाजवादी शासन को भी १९७४ में-अपनी भूल को स्वीकार करना पड़ा और अनाज के व्यापार से अपना एकाधिकार समाप्त करना पड़ा।

अतः वैदिक अर्थ व्यवस्थानुसार यज्ञ मार्ग पर चलते हुए हमें सभी राष्ट्र और विश्व का सर्वांगीण विकास करें।

यज्ञ और मार्ग द्वारा मनुष्य आत्मा और शरीर का विकास करता हुआ सब भांति संतुष्ट होता है।

समाजवाद एक नारा है, जो एक वर्ग दूसरे वर्ग की समाप्ति के लिए लगाता है। अतः इस नारे के कुचक्र से निकल सभी यज्ञ मार्ग का अनुसरण करें ताकि धरती स्वर्ग बन सके।

५

राष्ट्रीयकरण और वेद

राष्ट्रीयकरण का अर्थ है संपत्ति के समस्त उत्पादक साधनों का राज्य द्वारा प्रबंध। इस पद्धति में व्यक्ति का अस्तित्व केवल मशीन सा रह जाता है और उसे राज्य द्वारा नियुक्त कार्य ही करना पड़ता है। इस व्यवस्था में व्यक्ति द्वारा स्वतः प्रेरणा से कुछ करने का उत्साह भी समाप्त हो जाता है।

ऐसी स्थिति में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का तो हनन होता ही है—राष्ट्र की उन्नति और विकास भी रुक जाता है। राष्ट्रीयकरण के जितने भी प्रयोग हमारे देश में हुए हैं उनमें असफलता ही हुयी है। फिर भी कुछ व्यक्ति और संस्थाएँ राष्ट्रीयकरण के नारे के प्रचार में व्यस्त रहते हैं। उन लोगों की ओर से यह तर्क ही प्रस्तुत किया जाता है कि राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था के परिणास्वरूप व्यक्ति का शोषण न होगा और उद्योगों में एकाधिपत्य न हो पाएगा।

समाजवाद के ये उद्घोषक अपने नारे के पक्ष में कतिपय साम्यवादी देशों की अर्थ व्यवस्था का उदाहरण देते हैं और 'दूर के ढोल सुहावने' की स्थिति के अनुरूप भारतीय जनमानस के बहुत बड़े वर्ग को आकृष्ट करने में भी इन्हें सफलता मिली है इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु इस वर्ग के लोग इस तथ्य को विस्मृत कर देते हैं कि जिन देशों में साम्यवादी या समाजवादी शासन पद्धति के अन्तर्गत राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया अपनाई गयी थी, जहाँ पहले व्यक्तिगत संपत्ति का उन्मूलन ही युग का नारा बन गया था, वहाँ अनुभवों ने समाजवादी शासकों को व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार को प्रत्यक्ष भी, अप्रत्यक्षतः मान्य करना आरम्भ कर दिया है।

भारत में राष्ट्रीयकरण के धनघोर नाद को निनादित करने वाले शासकों ने जिन उद्योगों का राष्ट्रीयकण किया, उनमें भी अब तक का अनुभव यही है कि भ्रष्टाचार और घाटे का हीं प्राबल्य रहा है, राष्ट्रीयकरण के उद्गाता उद्योगों के राष्ट्रीयकरण, व्यक्गित संपदा के उन्मूलन पर जोर

देते हैं, पूँजीवादी पद्धति के उपासक पूर्ण स्वातन्त्र्य का उद्घोष करते हैं, किन्तु ये दोनों ही पद्धतियाँ अपूर्ण हैं, क्योंकि एक में मानव चिन्तन तक पर अंकुश लगता है तो दूसरी व्यवस्था में आचरण पर कोई अंकुश ही नहीं रहता। इसकी तुलना में वैदिक व्यवस्था में राष्ट्र और समाज की मूल इकाई अर्थात् व्यक्ति से लेकर समष्टि तक के निर्माण की व्यवस्था है।

हम इस अध्याय में वेद और महर्षि दयानन्द के कतिपय विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठक इन पर स्वयं चिन्तन करें—

ऋग्वेद १-१२५-७

मा पृणान्तो दुरितमेन आरन्॥

दानी लोग दुःख दारिद्रय में कभी न पड़ें।

दानी वही हो सकता है जिसके पास अपना धन हो। जिसके पास होगा ही नहीं वह देगा क्या? और फिर मंत्र भाग कह रहा है कि उन्हें कभी दरिद्रता न मिले। यही नहीं—वेद का आदेश है—

अ० १३-१-३४

द्रविणं च रोह

धन को बढ़ाओ!

आप सोच सकते हैं कि वेद का यह आदेश राज्य के लिए भी तो हो सकता है, पर नहीं वेद स्पष्ट कह रहा है कि—

मा नो आकृते पुरुहूत योना।

ऋ० १-१०४-७

हे इन्द्र! हमें धन धान्य से शून्य घर में मत रख!

कितना स्पष्ट निर्देश है वेद का—

सर्व—पणेः सम विन्दत।

अ० २०-२५-४

व्यापार से सब कुछ मिलता है।

मयि देवा द्रविण मा यजन्ताम।

अ०-५-३-५

उत्तम गुण मुझमें धन लावें।

मुझ में शब्द पर ध्यान दीजिए!

भद्रा रातिः—ऋ०-८-१९-१९

हमारा दान अच्छा हो (जिसके पास धन होगा ही नहीं, वह दान कैसे देगा?

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थं मीयुः ।

ऋ०१०-१०७-८

धन को स्वयं भोगने वाले
और दूसरों को देने वाले
न मरते हैं न क्षीण होते हैं ।।

नू मर्त्तो दयते सनिष्यन् यो विष्णव ।
उरु गायाय दाशत ।

ऋ० १०-१००-१

धन का का इच्छुक वह पुरुष
जल्दी धन को पा लेता है
जो वहुतों से पाने योग्य को देता है ।

महर्षि दयानन्द के विचार

ऋ० १-८-८ का भावार्थ लिखते हुई ऋषि लिखते हैं—

'सब मनुष्यों को सर्वशक्तिमान अन्तर्यामी ईश्वर का आश्रय लेकर, अपने पूर्णपुरुषार्थ के साथ चक्रवर्ती राज्य के आनन्द को बढ़ाने वाली विद्या की उन्नति, सुवर्ण आदि धन और सेना आदि बल सब प्रकार से रखना चाहिए जिससे अपने आपको और सब प्राणियों को सुख हो ।

ऋ० १-९-६

सब मनुष्यों को उचित है कि···पुरुषार्थी और यशस्वी होकर विद्या तथा राज्य लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए सदैव उपाय करें ।

ऋ० १-९-७

धन के जोड़ने की इच्छा अपने पुरुषार्थ द्वारा करें ।

ऋ० ३-५१-६

मनुष्यों को चाहिए कि ऐसी वाणी ग्रहण करें और सुनें कि जिससे धन संग्रह होता है ।

ऋ० ३-५५-२०

कोई भी पुरुष परमेश्वर की आज्ञा के बिना बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त नहीं होता।

सब लोगों को चाहिए कि परमेश्वर की आज्ञा का पालन करके ऐश्वर्यवान् होवें।

अ० ३-६०-४

जो विद्वान् होकर धर्मयुक्त आचरण से प्रस्तुत करते हैं वे लक्ष्मीवान और अतुल धनों को प्राप्त होकर पराक्रम को बढ़ाते हैं।

सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास

—पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है।

—इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है।

—बढ़े हुए धन का व्यय देशोपकार करने में [गृहस्थी व्यक्ति] किया करें।

—धन से सर्वदा परमार्थ किया करें।

जहाँ तक बने वहाँ तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने कराने में धनादि पदार्थों का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षा युक्त कर दें।
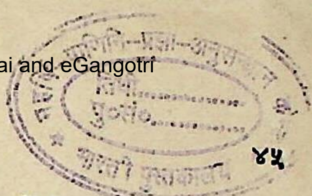
षष्ठ समुल्लास

सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवां भाग राजा को देवें। और राजा भी सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से जो सब ने मिल के जीता हो, सोलहवां भाग देवें।

—जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृषित करने से क्षीण हो जाते हैं वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धु सहित नष्ट हो जाते हैं।

—राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो प्रजा न हो तो राजा किसका और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे ?

दोनों अपने-अपने काम में स्वतंत्र और मिले हुए प्रीति युक्त काम में परतन्त्र रहें।



वेद और ऋषि दयानन्द द्वारा प्रगट विचारों से स्पष्ट है कि—

सम्पत्ति के उत्पादक साधनों पर व्यक्ति का ही अधिकार होना चाहिए। धन उत्पादन वैश्य का कार्य है। राजा का कार्य प्रजा एवं धर्म का [नियमों का] संरक्षण मात्र है।

वैदिक धर्म न पूँजीवादी है, न समाजवादी, न साम्यवादी। वह धर्म यज्ञ—के अनुसार मानव मात्र की समानता का, उत्कर्ष के लिए समान अवसर का, मिल जुल कर दुःख-सुख बाँटने का पक्षपाती है।

संक्षेप में कहना हो तो यह भी कहा जा सकता है कि पूँजीवादी व्यवस्था व्यक्ति को शैतान बनाती है साम्यवादी व्यवस्था व्यक्ति कोहैवान बनाती है और वैदिक व्यवस्था मानव को वास्तव में इन्सान बनाती है।

पूँजीवाद जहाँ धन के कुछ हाथों में जमाव की स्थिति बनाता है, समाजवाद जहाँ सर्वहारा के नाम पर समग्र संपदा पर एक-दो दल विशेष का ही प्रभाव बढ़ाता है,वहाँ वेद का मार्ग व्यक्ति द्वारा धन के साथ-साथ सैकड़ों हाथों से अर्जन के साथ ही उसके समष्टि की हित साधनार्थ हजार हाथों से विसर्जन कर सर्वे संन्तु निरामया के प्रेरक आदर्श से जन जन को सद् चिद् और आनंद के लक्ष्य पर ले जाता है।

—:o:—

वदिक अर्थव्यवस्था का आधार

व्यक्ति संसार में आता है अर्थात् बालक जन्मता है तो धन की आवश्यकता भी उसके साथ ही उपस्थित हो जाती है। बालक के लिए माता का दूध उसकी जीवन रक्षा का साधन है और यही उसका धन है बड़े होने पर वस्त्र और अन्न तथा रहने के लिए मकान ये सभी तो सम्पदा के ही रूप हैं। वस्तुतः शारीरिक विकास और संरक्षण के लिए आवश्यक उपादानों को भी धन की संज्ञा दी जा सकती है। आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सभी उपादानों को जुटाना अर्थात् इस रूप में धन का संग्रह एक आवश्यक मानवीय दायित्व है।

वैदिक व्यवस्था में धन से विरक्ति का नहीं तो उसके प्रति आसक्ति का भी विधान नहीं है। जबकि पूँजीवादी पद्धति व समाजवादी पद्धति दोनों में ही धन के प्रति आसक्ति ही दो विभिन्न छोरों के रूप में मुखरित होती है। पाश्चात्य चिन्तन की धुरी जहाँ धन ही है वहाँ वैदिक दर्शन में पहले जन आता है और फिर धन। समाजवादी व पूँजीवाद आदि व्यवस्थाओं में पूँजी के लिए प्रभु की उपेक्षा और धन के समक्ष जन को हेय मानने की प्रवृत्ति का प्राबल्य है, जबकि वेद के विधान के अनुसार धन से पहले जनको स्थान प्राप्त है और जन के लिए धन आवश्यक माना गया है किन्तु धन के लिए 'जन' को बलि चढ़ा देना उसका आदर्श नहीं।

इसीलिए पाश्चात्य चिन्तन में जहाँ भौतिक सुखों के जुटाने और बढ़ाने को जीवन का लक्ष्य माना गया है और व्यक्ति की महत्ता का आँकलन भी उसी के आधार पर होता है, भोग को ही प्रमुखता मिलती है, जबकि वैदिक दर्शन में त्यागी पूज्य है और भोगी हेय हैं।

जहाँ तक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न है वैदिक समाजव्यवस्था व आर्थिक चिंतन उनको न्यूनतम करने पर जोर देता है किन्तु पाश्चात्य विचारधाराएँ उनके बढ़ाने पर ही केन्द्रित हैं। सूत्र रूप में यह भी कहा जा सकता है कि पाश्चात्य अर्थव्वस्था की प्रेरणा का स्रोत पेट है जबकि वैदिक चिंतन के अनुसार व्यक्ति का पेट है किन्तु व्यक्ति पेट ही नहीं है

का सिद्धान्त ही समग्र मानवीय क्रियाओं का नियामक होना चाहिये।

आवश्यकता न्यूनतम और उद्यम या परिश्रम अधिकतम ही वैदिक कर्मपद्धति का आधार है। क्योंकि वैदिक व्यवस्था का अन्तिम आदर्श व्यक्तित्व को महानता की उस उत्कृष्ट स्थिति तक पहुँचाना है जिसमें वसुधैव कुटुम्बकम् और सर्वे भवन्तु सुखिना, सर्वे सन्तु निरामया जबकि समाजवादी व साम्यवादी दर्शन का चरमोत्कर्ष Greatest good of the greatest Number भी दूसरे शब्दों में बहुजन हिताय बहुजन सुखाय के बौद्ध दर्शन के निकट तक ही पहुँच पाया है। इसके विपरीत वैदिक आदर्श है सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय।'

इसी उद्देश्य को समक्ष रखकर वैदिक अर्थव्यवस्था अधिकाधिक नहीं अपितु हर हाथ को यथायोग्य काम पर आधारित हैं। अतएव आर्थिक नीतियों के नियमन और योजनाओं क्रियान्वयन में भी वैदिक अर्थनीति के अनुसार ऐसी व्यवस्था का अवलम्बन किया जाना अपेक्षित है कि जन शक्ति का औद्योगिक व कृषि आदि सभी क्षेत्रों में अधिकाधिक उपयोग हो सके। हमारी योजनाएँ धन प्रधान नहीं अपितु जन प्रधान और पूँजी पर आधारित नहीं अपितु श्रम पर अधिष्ठित होनी चाहियें!

वैदिक अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत न तो यंत्रों के समक्ष व्यक्ति को हेय बनाने की अनुमति है और न ही यंत्रों को हेय समझने की। किन्तु उसका मूल सूत्र यह है कि व्यक्ति के लिए यंत्र हो सकते हैं, व्यक्ति यंत्रों के लिए समर्पित नहीं हो सकता है। स्वदेश में यदि श्रम प्रधान व जन प्रधान योजनाएँ वैदिक अर्थव्यवस्था के मूल सिद्धान्तों के अनुरूप क्रियान्वित की जातीं तो आज देश के समक्ष बेकारी और अभाव का जो ताण्डव नृत्य हो रहा है, वह दृष्टिगोचर न होता।

वैदिक अर्थव्यवस्था व्यक्ति को विशेष महत्व देती है। व्यक्ति का श्रम ही अर्थ उत्पादन का आधार है किन्तु आज तो मशीन को व्यक्ति से अधिक महत्व दिया जा रहा है। पाश्चात्य आर्थिकदर्शन में चिन्तन जड़ पर केन्द्रित होता है तो वैदिक व्यवस्था में 'चेतन' पर, क्योंकि चेतन जड़ का रचयिता व संचालक भी है।

बेकारी का कारण

हमारी दृष्टि में बेकारी का कारण है मशीन को अधिक महत्व देना। जुलाहा करघों पर कपड़े बनाता है तो राष्ट्र के सभी नागरिकों के

तन ढँकने के लिए लाखों व्यक्तियों को काम मिल जाता है। किन्तु एक बड़ी कपड़ा मिल लगने से १००० व्यक्तियों को तो काम मिल जाता है पर ४० हजार व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। इसी भांति हम जितना जितना मशीनों पर निर्भर होते जाते हैं व्यक्ति बेकार होता जाता है।

अभी ४०-५० वर्ष पहले सम्पन्न परिवारों में हाथ से खींचने के पंखे हुआ करते थे। निर्बल वृद्ध व्यक्ति इन्हें खींच कर अपना निर्वाह कर लेते थे। पर बिजली के पंखे लग जाने से हाथ के पंखे गए और साथ ही हजारों व्यक्ति बेकार हो गये !

भारी उद्योग जहाँ-जहाँ जैसे-जैसे बढ़ रहे हैं वैसे-वैसे बेकारी बढ़ती चली जा रही है। जब दो हाथ हजार हाथों का काम मशीन संभाल ले तो ९९९ हाथों को काम कौन दे, मशीन की आवश्यकता और प्रयोग तभी होनी चाहिये जब व्यक्ति द्वारा कार्य न चल सकता हो !

वैदिक अर्थ व्यवस्था का आधार है—

१—यज्ञ अर्थात् त्यागवाद, अपना आवश्यकताएँ कम से कम करना !

२—विकेन्द्रीयकरण। उत्पादित धन का अधिकाधिक वितरण।

३—संग्रह की प्रवृत्ति का विरोध।

४—कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन। व्यक्ति के श्रम का उपयोग। अधिक से अधिक हाथों को काम।

५—व्यक्ति का धन उत्पादक साधनों पर पूर्ण अधिकार।

६—व्यक्ति द्वारा धन का सब के कल्याण और अभाव की समाप्ति के लिए प्रयोग।

७—राज्य का कार्य धन के अधिपति का संरक्षण और धर्म पूर्वक व्यय की प्रेरणा। अधर्म से संग्रह और व्यय पर अंकुश।

८—'अर्थ' संग्रह व उत्पादन पर समाज के एक अंग वैश्य का एकाधिकार।

९—अधिक से अधिक व्यक्तियों को काम। बेकारी की समूल समाप्ति।

१०—अर्थ उत्पादन में धर्म पूर्वक कार्य।

इन सूत्रों के आधार पर वैदिक अर्थ व्यवस्था खड़ी है।

सार रूप में हम यह समझें कि सबसे प्रमुखता व्यक्ति के विकास को दी जानी चाहिये। प्रत्येक हाथ को काम मिलना चाहिए ! भारी उद्योगों

व मशीनों का प्रयोग तब होना चाहिये जब हाथों के द्वारा कार्य न चल सके। वैदिक अर्थ व्यवस्था में धन का उद्देश्य व्यक्ति का उत्थान-निर्माण है। किसी भी कारण से यदि व्यक्ति को हानि पहुँचती है तो उसे रोका जाना चाहिये। इसे हम यूँ भी कह सकते हैं कि व्यक्ति से समाज बनता है। स्वस्थ-सबल समाज के लिए व्यक्ति का अभाव दूर होना ही चाहिए ! यहाँ इतना और समझ लें कि समाज का दायित्व है कि कोई व्यक्ति अभाव ग्रस्त न रहे।

यत्र विश्वं भवत्येक नीड़ं

यह संसार एक परिवार बन जाए, और जो कुछ भी हमारे पास है हम उसका उपयोग मिल बाँट कर करें, तो धरती पर दुःख और अभाव नहीं रह सकता !

यते मही स्वराज्ये

जहाँ भूमि हो वहाँ स्वराज्य हो ! प्रत्येक स्थान, परिवार-प्रदेश में अपने को स्वतन्त्र अनुभव करे। स्वतन्त्रता विचार की, व्यवहार की, चिन्तन की और नियंत्रण हो, "धर्म" का !

धर्म भावना का नियन्त्रण ही व्यक्ति को ईमानदार, सत्यवादी, परोपकारी बना सकता है। राज्य के नियन्त्रण व्यक्ति तोड़ना चाहता है पर धर्म के नियन्त्रण में रहने पर वह आनन्द अनुभव करता है।

वैदिक दृष्टि से

आज की समस्याओं का हल

प्रश्न—वर्तमान आर्थिक विषमता कैसे दूर हो ? एक ओर कंगाली और दूसरी ओर अपार धन राशि—इसका क्या हल है ?

उत्तर—इसका हल धर्म भावना द्वारा बड़ी आसानी से हो सकता है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह धनपतियों को धर्म की प्रेरणा करे ! राज्याधिकारी मंत्री स्वयं सादगी, त्याग का आदर्श अपनाएं और राज्य द्वारा निरन्तर धर्म के कार्यों को, विचारों को प्रसारित किया जाए।

"राज्य" धर्म राज्य हो ! धर्म राज्य से तात्पर्य है, यम-नियमों पर आधारित राज्य। धृति, क्षमा, दमन अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीः, विद्या, सत्य, अक्रोध, की भावना का प्रसारक राज्य, धर्म राज्य कहा जाएगा।

५ यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और ५ नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति का प्रचार राज्य अपने सभी प्रचार साधनों से करे। ऐसा करने से धनपति में अभाव दूर करने की भावना उत्पन्न होगी।

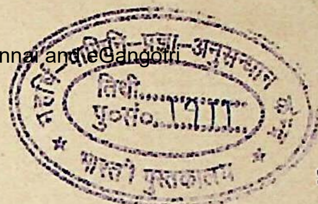
प्रश्न—यह तो आपने एक आदर्श की बात बतायी। किन्तु व्यवहार में कैसे गरीबी मिटायी जाए ?

उत्तर—गरीबी समाप्त करने के लिए निम्न उपाय प्रयोग में लाए जाएं तो तीन मास में देश का काया कल्प हो सकता है।

१—१००) के नोटों का प्रचलन बन्द किया जाए।

२—राज्य कर्मचारियों के वेतन में ३० प्रतिशत कमी की जाए।

३—मंत्रियों को १०००) और संसद् सदस्यों को ५००) मासिक से अधिक न दिया जाए।



४—भारी उद्योगों को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया जाए। केवल राष्ट्र रक्षा के लिए आवश्यक भारी उद्योग ही खोले जाएं। इनके स्थान पर ग्रामों में छोटे छोटे कुटीर उद्योगों का जाल बिछा दिया जाए।

५—शासन का भ्रष्टाचार धर्म निरपेक्षता के नारे ने बढ़ाया है। त, स्वार्थ ने सर्वत्र डेरा जमा लिया है। अतः शासन को ऊपरसे पवित्र बनाया जाए। विलासिता और अधिक व्यय करने की प्रवृत्ति को रोका जाए। अध्यादेश द्वारा विलास प्रसाधनों के आयात व निर्माण को तुरन्त रोका जाए ! फैशनेबिल कपड़ों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए ! पाउडर, लिपस्टिक, आदि गर्हित पदार्थ घोषित हों। सिगरेट, शराब आदि पर भारी कर लगें।

६—हड़ताल, तालाबन्दी करने वालों को कठोरतम दंड दिए जाएँ।

७ - प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाया जाए।

८—कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया जाए। कागजी योजनाएँ और आसमानी प्रस्ताव छोड़कर किसानों को सभी संभव सुविधाएँ दी जाएँ।

९—सभी मंत्री, संसद् सदस्य सेवा की भावना से काम करें। भाषण कम और काम ज्यादा करें।

१०—उत्पादन भरपूर हो, व्यापार उन्मुक्त हो। प्रदेशीय करादि व सीमाएँ समाप्त की जाएँ।

सारा देश युद्ध स्तर पर उत्पादन दें जुट जाए और प्रखर धर्म व राष्ट्र प्रेम की भावना से सभी मिल जुलकर काम करें, तो देश की सारी आर्थिक समस्या बहुत आसानी से सुलझ सकती है।

पश्चिम की अंधी नकल और शासन के भ्रष्टाचार ने देश को तबाही की भट्टी में झोंक दिया है। वस्तुतः समाजवाद और राष्ट्रीयकरण का खोखला नारा ही देश की गरीबी और बढ़ती मँहगाई का मुख्य कारणहै।

प्रश्न—आपके और समाजवाद के गरीबी मिटाने के प्रकार में क्या अंतर है।

उत्तर—समाजवाद अमीर को मिटाकर राज्य के कुछ व्यक्तियों के हाथ में सत्ता देकर, गरीबी मिटाने का नारा लगाता है। किन्तु हम गरीब को उन्नति का समान अवसर देकर उसे सम्पन्न बनाना चाहते हैं।

—समाजवाद अमीरों का शत्रु है।

—हम गरीबी को, अभाव को समाप्त करना चाहते हैं।

प्रश्न—यदि राज्य उत्पादन के प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करेगा तो उसका लाभ गरीब को कैसे होगा ?

उत्तर—हमारे दृष्टिकोण में अमीर-गरीब नामक दो वर्ग नहीं हैं। राष्ट्र के समस्त नागरिकों का वैदिक दृष्टि से केवल एक ही वर्ग है। सभी को समान उन्नति का अवसर देना वैदिक राज्य का कर्तव्य है।

श्रमिक, वैश्य बने, वैश्य उन्नति कर क्षत्रिय बने और क्षत्रिय उन्नति कर ब्राह्मण बने।

राज्य का कार्य सभी को उन्नति के समान अवसर देना है। सभी जब तक धर्म पूर्वक कार्य करते हैं तब तक वे कार्य करने में स्वतन्त्र हैं किन्तु जहाँ कोई धर्म को छोड़ता है, तब राजा का अंकुश उस पर आरम्भ होता है।

प्रश्न—क्या पिता की सम्पत्ति का अधिकार पुत्र को, सन्तान को है, या राज्य को ?

उत्तर—पुत्र या संतान पिता के समस्त दायित्वों, कर्तव्यों की पूर्ति करता है। पुत्र कहते ही उसे हैं जो पिता का उत्तराधिकारी हो !

प्रश्न—क्या गरीब और अमीर के बच्चों की शिक्षा में भेद होना चाहिए।

उत्तर—नहीं, क्योंकि वैदिक व्यवस्था में कोई गरीब, अमीर नहीं। राजा व ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र की संतान को भी शिक्षा की समान सुविधाएं मिलनी चाहिएं। गुरुकुल में सभी के बालक समान रूप से रहें। स्व योग्यता अनुसार उन्नति करें। किसी के साथ भी पक्षपात न हो। शिक्षा समाप्ति पर आचार्य उन्हें योग्यतानुसार वर्ण प्रदान करे ! और जिसे जो-जो कार्य मिले वह उसी के अनुसार अपना-अपना कार्य करें !

प्रश्न—यदि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण न हो वैश्य हो जाए, या वैश्य का पुत्र ब्राह्मण हो जाए तो सम्पति का क्या बने ?

उत्तर—हम पहले बता चुके हैं कि—

ब्राह्मण का धन "ज्ञान" है।

अतः वह उत्तराधिकार में 'ज्ञान' ही देता है। यदि उसका पुत्र



ब्राह्मण नहीं बन सका, तो ब्राह्मण का 'ज्ञान' धन वह नहीं संभालेगा। ऐसी स्थिति में आचार्य की व्यवस्थानुसार जो ब्राह्मण वर्ण धारण करेगा, वह पुत्र ब्राह्मण का कहलाएगा और वही उसका उत्तराधिकारी होगा।

इसे ऐसे समझिए कि ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के चार पुत्र गुरुकुल गए। ब्राह्मण का पुत्र यदि ब्राह्मण बना तो वह अपने पिता के ज्ञान को संभालेगा किन्तु दुर्भाग्यवश यदि वह शूद्र हुआ और शूद्र का पुत्र ब्राह्मण बन गया तो वह ब्राह्मण के ज्ञान धन का उत्तराधिकारी होगा। ऐसी स्थिति में वह ब्राह्मण का पुत्र बन जाएगा। पर यदि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही बनता है तो वही अपने पिता के ज्ञान का उत्तराधिकारी होगा! यहाँ यह स्पष्ट समझ लें कि उत्तराधिकार घर-परिवार का नहीं 'ज्ञान' का है। क्षत्रिय का धन "शौर्य" है। वैश्य का 'धन' उत्पादन है। शूद्र का धन 'श्रम' है। यह वर्ण, Duties हैं। कर्त्तव्य हैं, पद हैं।

वैदिक अर्थ व्यवस्था में, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म में स्वतंत्र हैं। उनके संतान गुरुकुल में समान रूप से पढ़ेंगे। जो पिता के काम को संभालने के योग्य होंगे, पिता का काम सम्भालेंगे। जो नहीं सम्भाल सकेंगे वे अपने योग्य कार्य को सम्भालेंगे! और जिनके पुत्र उनका कार्य सम्भालने में असमर्थ होंगे वे अपने कार्य को समझने में सक्षम पुत्र आचार्य से कहकर गोद ले लेंगे!

प्रश्न—क्या इससे सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण सिद्ध नहीं होता?

उत्तर—नहीं, कदापि नहीं। सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण का अर्थ है सम्पत्ति के प्रबंध पर राज्य का अधिकार! वैदिक व्यवस्था में अधिकार राज्य का नहीं व्यक्ति का सुरक्षित है! वह अपने पुत्र के अयोग्य होने पर किसी भी योग्य पुत्र को अपनी सम्पत्ति का प्रबंध-भार-दायित्व सौंपने में पूर्ण स्वतंत्र है। अतः सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण की बात वैदिक व्यवस्था के सर्वथा विरुद्ध सिद्ध होती है!

प्रश्न—आपकी दृष्टि में इस सम्पूर्ण समस्या का क्या हल है?

उतर—संसार की आर्थिक समस्या का हल है **"वैदिक साम्राज्यवाद"**। वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक युग के महान् क्रांतिकारी ऋषिदयानन्द न समाजवादी थे, न पूंजीवादी,वे थे साम्राज्यवादी। चौंकिए नहीं,गहरे पानी

पैठ बुद्धि पूर्वक समझने का प्रयत्न कीजिए !

महर्षि दयानन्द संसार में आर्यों का चक्रवर्ती अखंड साम्राज्य चाहते थे ! आर्य कौन,

ईश्वर के पुत्र !
ईश्वर का पुत्र कौन ?
जो ईश्वर की बतायी राह पर चले !
ईश्वर की बतायी राह कौनसी ?
धर्म की—
वेद की,
सत्य की,

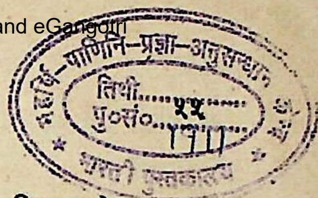
ऋषि दयानन्द धरती पर उस महान् क्रांति के सूत्रधार थे, जिस क्रांति में अनार्य समाप्त हो जाएँ अर्थात् अधर्म मिट जाए ।

महर्षि का चक्रवर्ती साम्राज्य वैदिक विचारधारा का साम्राज्य है ।
आर्य कोई जाति नहीं,
आर्य कोई वर्ग नहीं,
आर्य कोई मत नहीं,

आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ व्यक्ति जो व्यक्ति श्रेष्ठ हैं, जो प्रभु के पुत्र हैं, जो धर्म पर चलने वाले हैं उन श्रेष्ठ आर्यों का, वैदिक विचारधारा का साम्राज्य भू मण्डल में हो !

अतः आज आवश्यकता है कि हम साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद अधर्मवाद, नास्तिकवाद और सभी मनुष्य कृत वादों को मिटाकर धरती को एक बनाने के लिए वेद-वाद का धर्मराज्य का,चक्रवर्ती साम्राज्य सर्वत्र स्थापित करें ।

सब के मत एक हों
सब के विचार एक हों
सब का चिन्तन एक हो
सब का लक्ष्य एक हो
सब सब के कल्याण के लिए काम करें—सोचें,
यही वेद वाद है ।
यही धर्मवाद है ।
इसी की स्थापना महर्षि दयानन्द का लक्ष्य था ।



प्रश्न—काले धन की समस्या का क्या हल है?

उत्तर—काला धन राज्य के अधार्मिक होने का परिणाम है। राज्य करने वाले व्यक्ति इस काले धन के संरक्षक हैं।

वैदिक अर्थ व्यवस्था में राजा प्रजा का संरक्षक-सेवक होता है। योगी, तपस्वी, जितेन्द्रिय धार्मिक व्यक्ति शासन में हों तो वे अपना जीवन विलासितापूर्ण न बिताएँ। त्याग-तपस्या से स्वयं धर्म की राह पर चलें और सभी को चलाएँ।

बड़े नोट बन्द कर और विलासिता की सामग्री पर प्रतिबन्ध लगा कर तथा धर्म भावना का प्रचार कर राज्य काला धन समाप्त करा सकता है!

प्रश्न—गरीब-अमीर का भेद कैसे मिटे?

उत्तर—वैदिक दृष्टि में कोई गरीब नहीं, कोई अमीर नहीं। हाँ किसी के पास अभाव नहीं होना चाहिए। जिन्होंने श्रम से अधिक संग्रह कर लिया है वे अपना संग्रह अभाव दूर करने में प्रयुक्त करें! धर्म पूर्वक धन का प्रयोग यही है कि कहीं भी अभाव न रहने दें। धन संग्रह का भी यही उद्देश्य होना चाहिए और यह मनोवृत्ति राज्य धर्म-प्रचार द्वारा ही उत्पन्न कर सकता है!

प्रश्न—यदि कोई धन सम्पन्न व्यक्ति अभाव ग्रस्त को तंग करे, सताए तो क्या किया जाए?

उत्तर—यह कार्य धर्म विरुद्ध होगा और राज्य का कार्य धर्म की रक्षा का है। हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जब तक प्रजा धर्म मार्ग पर चलती है तब तक पूर्ण स्वतन्त्र है! राज्य को किसी भी व्यक्ति के धर्म पूर्वक किए जा रहे कार्य को रोकने का अधिकार नहीं है।

किन्तु यदि कोई व्यक्ति अधर्म पूर्वक धन से किसी को तंग करता है और अपने धन का प्रयोग अभाव ग्रस्त की रक्षा में नहीं, अपितु उसे सताने हेतु करता है तब राज्य का कर्तव्य होता है कि ऐसे अधार्मिक व्यक्ति को कठोरतम दंड दें। जिससे कि अन्य व्यक्ति भी शिक्षा ग्रहण कर सकें।

प्रश्न—एक ओर आप यह कह रहे हैं कि धन कमाना केवल वैश्य

का कार्य है। दूसरी ओर अन्य तीन वर्णों के लिए भी मकान, अन्न वस्त्र आदि चाहिए। तो क्या ये धन नहीं ? और यदि ये धन हैं तो क्या ये वर्ण भी धन के कार्य में नहीं लगे।

उत्तर—प्रश्न सर्वथा मौलिक हैं और यह वैदिक अर्थ व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त को स्पष्ट कर रहा है ! वस्तुतः सही दृष्टि यह है कि जीवन की सामान्य उपयोगी वस्तुएँ धन नहीं हैं। रोटी, मकान, वस्त्र दूध, जल आदि वैदिक दृष्टि से धन नहीं हैं।

'वेद' की विचारधारा में "धन" वही है जो संग्रह किया जाए ! आवश्यकता पूर्ति की आवश्यक सामग्री साधन है।

साधन जब उपयोग से अधिक होकर संग्रह हो जाते हैं तब वह धन होता है।

—'धन' वह है जो संग्रहीत हो !

—'धन' वह है जो आवश्यकता से अधिक हो !

—'धन' वह है जो अभाव दूर करने में समर्थ हों !

—'धन' वह शक्ति है जो व्यक्ति दूसरों को दे सकता है !

ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र के पास जीवन निर्वाह के साधन होते हैं, होने चाहिए ! पर उनके पास 'धन' नहीं होता !

धनपति 'वैश्य' होता है। उसे ही यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपनी आवश्यकताओं से अधिक साधन संग्रह करे। और उसका ही यह कर्तव्य है कि किसी को भी साधनों का अभाव न रहने दें।

प्रश्न—क्या आप का यह उत्तर पिछले अध्यायों में वर्णित आप के विचारों के ही विरुद्ध नहीं है !

उत्तर—नहीं। क्योंकि वहाँ हमने 'धन' शब्द का प्रयोग प्रचलित मान्यताओं के आधार पर किया है। और यह स्पष्टीकरण वैदिक आधार को स्पष्ट करने के लिए है। दोनों में कोई भेद नहीं है।

नोट :—

पुस्तक पढ़कर यदि आप के मन में कोई प्रश्न उभरे तो हमें लिखें। हम उसके समाधान का प्रयत्न करेंगे। —लेखक

खोजपूर्ण वैदिक साहित्य

१. वेदों का यथार्थ स्वरूप–

पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड की एक सशक्त रचना, जिसे पढ़ कर 'वेद' के प्रति श्रद्धा उभरनी आवश्यक है। सभी संशयों का प्रभावपूर्ण समाधान। सजिल्द मूल्य ५)

२. संक्षिप्त महाभारत–

महाभारत का यह लघु संस्करण स्व० महात्मा हंसराज जी ने प्रकाशित कराया था। अब पुनः प्रस्तुत है कपड़े की बढ़िया जिल्द में मूल्य ६)

३. ज्योति – स्तंभ

१२ शीर्षस्थ आर्यसमाज के नेताओं के जीवन चरित्र। १२ आर्ट पेपर पर चित्रों सहित मूल्य ३)

४. बोध – रात्रि [महाकाव्य] ऋषि दयानन्द का यह अनुपम काव्यमय जीवन चरित्र बर्मा में लिखा गया था। अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। मूल्य ३)

५. आर्य क्रांतिकारी—बनारसी सिंह

जिन वीरों ने वैदिक सिद्धान्तों से प्रेरणा लेकर अपने जीवन की राष्ट्र हित के लिए आहुति दी, उनकी अनुपम गौरव गाथा मूल्य ३)

६—शतपथ ब्राह्मण (प्रथम कांड) शतपथ ब्राह्मण का यह अपूर्व भाष्य स्वर्गीय स्वामी समर्पणानन्दजी महाराज की जीवन भर की साधना का सुपरिणाम है। ४०० से अधिक पृष्ठों का यह ग्रन्थ अपनी उपमा आप ही है। बढ़िया कपड़े की जिल्द के इस ग्रंथ का मूल्य है— १५)।

७--यजुर्वेद-सामवेद भाष्य—यजुर्वेद का भाष्य महर्षि दयानन्द कृत और सामवेद भाष्य आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री कृत एक ही सुनहरी जिल्द में प्रकाशित किया गया है। लागत मूल्य ५१)

८--ऋग्वेद (६ मण्डल)–

महर्षि दयानन्द कृत भाषा भाष्य मूल्य— ५१)

९--यजुर्वेद भाष्य

गत्ते की जिल्द मूल्य १४)। कपड़े की सुनहरी जिल्द १८)।

जन-ज्ञान-प्रकाशन नई दिल्ली-५

संसार के मनुष्यो !

अपनी धरती को स्वर्ग बनाने के लिए आओ ! 'वेद' की बताई राह पर चलें। जो कुछ भी सबके पास है वह सभी मनुष्य आपस में मिल बांट लें तो तो दुःख कष्ट अभाव का नाम भी कहीं खोजे जाने पर भी न मिलेगा।

वेद कहता है—

तुम सब एक हो, तुम्हारा लक्ष्य एक है, तुम्हारी आवश्यकताएं एक हैं। तुम में किसी तरह की कोई भेद भाव की दीवार कभी नहीं होनी चाहिए।

गरीब और अमीर का, छोटे-बड़े का, नीच-ऊंच का भेद स्वार्थी मनुष्यों ने बनाया है। आओ, सारे भेद मिटा कर हम एक हो जाएं !

प्रभु के सच्चे भक्त बनकर इस धरती को स्वर्ग बनाने के लिए हम आप को निमंत्रण दे रहे हैं।

—भारतेन्द्रनाथ